चातुर्वर्ण्य उत्पत्ति

श्री भागवत दर्शन

भागवती कथा

४८५
खण्ड ६४
~~धर्म~~

[उपनिषद् अर्थ]

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
प्रणीतं प्रभुदत्तेन श्रीभागवतदर्शनम् ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक
संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(झूसी) प्रयाग

प्रथम संस्करण १००० } अप्रैल १९७२ वैशाख सं०–२०२९ { मूल्य : १.६५

● प्रकाशक :
संकीर्तन भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी)
प्रयाग

● मुद्रक .
बंशीधर शर्मा
भागवत प्रेस
८५२ मुट्ठीगज, प्रयाग

छप्पय शतकत्रय

(श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

(राजर्षि भर्तृहरिजी के तीनों शतकों का छप्पय पद्यानुवाद)

संस्कृत भाषा का थोड़ा भी ज्ञान रखने वाला और वैराग्य पथ का शायद ही कोई पथिक होगा जिसने भर्तृहरि शतक का अल्पांश ही सही अध्ययन न किया हो। इन श्लोकों में महाराज भर्तृहरि का सम्पूर्ण ज्ञान वैराग्य मूर्तिमान हो उठा है। संस्कृत भाषा के अध्ययन के अभाव में यह ग्रन्थरत्न आज धीरे-धीरे नवीन पीढ़ी के लोगों के लिये अपरिचित-सा होता जा रहा है। श्री ब्रह्मचारी जी महाराज जैसे समर्थ एवं वैराग्य धन के धनी महापुरुष ही इसके अनुवाद जैसे दुष्कर कार्य को कर सकते थे। बड़ी प्रसन्नता की बात है कि महाराज जी ने कई वर्षों से होने वाले जिज्ञासु एवं भक्तों के आग्रह को इसके अनुवाद द्वारा पूर्ण किया।

आशा है वैराग्य पथ के पथिक सब प्रकार के जिज्ञासु विद्वान एवं साधारण जन इससे लाभ उठावेंगे। ३०० से अधिक छप्पय की इस पुस्तक का मूल्य २.५० मात्र।

—:०:—

विषय-सूची

संस्मरण

[१३]

यस्मिन् यतो यर्हि येन च यस्य यस्मात्
यस्मै यथा यदुत यस्त्वपरः परो वा
भावः करोति विकरोति पृथक्स्वभावः
सञ्चोदितस्तदखिलं भवतः स्वरूपम् ॥*
(श्रीभा० ७ स्क० ९ अ० २० श्लोक)

छप्पय

काल करम अनुसार सबनि सरबेश नचावैं।
जातैं जब जस उचित लखैं तब तस करवावैं॥
सत्व वृद्धि करवाइँ सतोगुन बली बनावैं।
रज तम वृद्धि कराइँ उभय गुन बलहिँ बढ़ावैं॥
करता, कारन, करन अरु, करम वही भगवान हैं।
उनि इच्छा बिनु पात नहिँ, हिलै तऊ निष्काम हैं॥

सब कार्यों का समय निश्चित रहता है। भगवान् जब जिससे जैसा भी कार्य कराना चाहते हैं, तब उसे वैसा ही कार्य विवश

---

* पृथक्-पृथक् स्वभाव वाले जितने भी श्रेष्ठ तथा कनिष्ट कर्ता हैं वे समस्त आपकी ही प्रेरणा से कार्य कर रहे है। जिसके लिये, जैसे, जिस उद्देश्य से, जिस विधि से जो भी कुछ करते हैं वह सब आपका ही स्वरूप है अर्थात् आप ही कर्ता करणादि बन कर्म करा रहे हैं।

बनकर करना पडता है। धर्म अधर्म दोनों ही उनके पुत्र हैं। धर्म हृदय से उत्पन्न हुआ है, अधर्म पींठ से। धर्म उन्हें प्रिय है। अधर्म उतना प्रिय नहीं। भगवान् में भी पक्षपात होता है क्या? देखो जी, इसे पक्षपात नहीं कहते। माता के चार पुत्र हैं, एक बलवान् है, एक मंदाग्नि वाला है, एक रुग्ण है। एक मानसिक कार्य करने वाला है। जो बली है माता उसको पोष्टिक आहार देती है। जिसकी अग्नि मन्द है, उसे बिना चुपडी रोटी, मूँग की दाल, पतली खिचडी देती है। रुग्ण है, उसे दाल का पानी और रोटी के ऊपर की पपड़ी देती है और जो बौद्धिक कार्य करने वाला है उसे दूध फल आदि देती है। इसमें पक्षपात नहीं है, पुत्रों के हित की कामना है। इसी प्रकार सृष्टि का क्रम चलाये रखने को उन्हें धर्म-अधर्म, सत्य-अनृत, यश-अपयश, जीवन-मरणादि द्वन्द्वों की आवश्यकता रहती है। द्वन्द्वों के बिना सृष्टि नहीं।

यह सृष्टि त्रिगुणात्मिका है। कभी सत्त्व गुण की वृद्धि हो जाती है, तब रज, तम दब जाते हैं। सब सत्त्वगुण प्रधान हो जाते हैं। उसे सत्ययुग कहते हैं। जब सत्त्व के साथ रजो गुण का भी कुछ अंश बढ जाता है, तब सत्ययुग में जैसे धर्म चतुष्पाद था अब त्रेता में आकर वह तीन पाद का ही रह गया। एक पाद पर अधर्म ने अधिकार स्थापित कर लिया। जब रज तम कुछ और बढ़े तो द्वापर में धर्म के दो ही पाद रह गये। दो में रज तम रूप अधर्म आ गया। कलिकाल में धर्म का एक ही पाद रह गया। तीन पाद अधर्म के और अन्त में वह भी समाप्त। इस प्रकार चारों युगों के चार-चार पाद होने से सोलह पाद हो गये। सोलह पादों में से दश पाद धर्म के और छे पाद अधर्म के हैं। युगों में ही नहीं, प्रत्येक युग में भी चारो युग वर्त जाते हैं। सत्ययुग में त्रेता, द्वापर, कलि का कुछ न कुछ अंश आ जाता है। ऐसे ही

त्रेता, द्वापर, और कलियुग में भी समझो। बारह-बारह वर्ष के
भी युग होते हैं। उन बारह वर्षों में भी चार युग वर्त जाते हैं।
बारह वर्ष की बात जाने दो। एक दिन में भी चारों युग वर्त जाते
हैं। मनुष्य के अल्प जीवन में ही कितने परिवर्तन होते हैं। इन
परिवर्तनों से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये, किन्तु जीव अन्ध
परम्परा के पीछे दौड़े चले जाते हैं। यही भगवान की माया है।
वह माया ही सब को नचा रही है, वही सबसे कार्य करा रही
है। अज्ञानी अपने को कर्ता मानकर फँस जाते हैं। ज्ञानी तटस्थ
द्रष्टा बनकर साक्षी रूप से सब देखते हुए हँस जाते हैं। ज्ञानी,
अज्ञानी सभी कार्य कर रहे हैं। एक अनजान में अपने को ही
करने वाला जानते हुए उनके सुख दुःख जनित फलों को भोगते
हैं, बन्धन में बँधते जाते हैं। दूसरे इन्द्रियाँ अपने अर्थों
में वर्त रही हैं, देह से मन इन्द्रियों द्वारा कार्य हो रहा है मैं द्रष्टा
हूँ साक्षी हूँ ऐसा सोचकर प्रारब्ध भोगों को भोगते हुए निर्लेप रहे
आते हैं। यही दोनों के कार्यों में अन्तर है।

सब कुछ भगवान् की ही प्रेरणा से हो रहा है वे जिसे
जिसका निमित्त बनाते हैं, उसे वह कार्य करना पड़ता है। इस
कलियुग में भी आज से चार सौ पाँच सौ वर्ष पूर्व सत्ययुग
आ गया था, उस समय देश के सभी भागों में एक साथ बहुत
भगवत् भक्त आचार्य, महापुरुष हो गये थे। कबीर, नानक
गोरख, तुलसी, सूर, रामानन्द, चेतन्य, रूप, सनातन, जीव,
हरिदास, वल्लभाचार्य, विट्ठलनाथ, हितहरिवंश, निवृत्तिनाथ,
ज्ञानदेव, सोपानदेव, एकनाथ, मुक्ताबाई, मीराबाई यहाँ तक
गिनावें एक दो शताब्दी के ही अन्तर्गत सहस्रों महापुरुषों ने
उत्पन्न होकर भगवती भक्ति की अजस्र धारा बहा दी। यद्यपि
वह यवन शासन का समय था, फिर भी इन महापुरुषों ने आस्ति-

कता की ऐसी संजीवनी बखेर दी कि जिससे अगणित जीव कृतार्थ हो गये।

ऐसी ही राजनैतिक बाढ़ सन् इक्कीस से सन् ४१ तक तीन बार आई। सन् इक्कीस का आन्दोलन तो सत्ययुगी था, ३१ का त्रेतायुगी, ४१ का द्वापर युगी और अब तो घोर कलियुगी वातावरण है। मैंने तीनों ही आन्दोलनों में कुछ-न कुछ भाग लिया और स्वराज्य हो जाने पर भी रामलीला, गोरक्षा आदि धार्मिक आन्दोलनों के कारण कई बार जेल जाना पड़ा। उस समय अँगरेजो के भाग्य का नक्षत्र आकाश में था एक सौ से अधिक देश उनकी छत्र छाया में उनके अधीन थे। उनका भाग्य मार्तंड मध्याह्न वेला में तप रहा था। किसी को स्वप्न में भी यह अनुमान नहीं, कि अँगरेज लोग इस इतने बड़े विशाल देश को छोड़कर एक दिन में भग जायँगे अधिक से अधिक लोग यही आशा लगाये हुए थे अँगरेजो की छत्रछाया में हमें औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त हो जाय। हमारे ही देश के कुछ नेता भारतवासियों को इसके भी अयोग्य समझते थे। अँगरेज कहते जब तुम लोग योग्य हो जाओगे तो हम तुम्हें औपनिवेशिक स्वराज्य देंगे। कब योग्य होंगे इसकी कोई अवधि नहीं थी। सन् २१ का असहयोग आन्दोलन सहसा नहीं हो गया। बीज पृथ्वी में पडा रहता है, वह अनुकूल समय आने पर अंकुरित, पल्लवित-पुष्पित और फलित हो जाता है। इसके पूर्व रासविहारी वोप, सूफी अम्बा प्रसाद, श्रीसावरकर, राजा महेन्द्र प्रताप तथा सैकडों क्रान्तिकारियों की कहानियाँ हम सुना करते थे। सैकड़ों ने विदेशों में जाकर सशस्त्र क्रान्ति करके देश को स्वतन्त्र करना चाहा। उन लोगों ने विदेशों में भारत की स्वतन्त्र सरकार भी बना ली थी। सैकड़ों सहस्रों स्वतन्त्रता संग्राम में बलिदान हुए। सैकड़ों

फाँसी के तख्ते पर झूल गये। वास्तव में स्वराज्य की नींव तो इन्हीं बलिदानियो की डाली हुई थी। उस नींव पर भवन का निर्माण कोई भी करलो। नींव के पत्थर दिखाई नहीं देते। वे अनन्त काल तक अदृश्य ही बने रहते हैं। किन्तु अदृश्य बनकर भी भवन के सम्पूर्ण भार को वे ही अपनी छाती पर लादे रहते हैं। नींव सुदृढ़ हो जाने पर भवन बनाने मे कठिनाई नहीं थी। किन्तु भवन बनाने मे भी लगन, चतुरता, त्याग तथा दृढ़ता की आवश्यकता है। २१ का आन्दोलन ऐसे ही सुयोग्य, त्यागी, सुदृढ़ असहयोगियो द्वारा चलाया गया था। हमारे उत्तर प्रदेश में सबसे अधिक नेता थे। प्रान्त भी बड़ा था, और भारत का हृदय भी है, समस्त आन्दोलनों का स्रोत उत्तर प्रदेश और तीर्थ-राज प्रयाग ही है। उन दिनों लखनऊ जेल में प्रयाग के ही नेता अधिक थे। उनमें त्यागमूर्ति पं० मोतीलालजी नेहरू सबसे श्रेष्ठ थे। अँगरेज अधिकारी समय देखकर काम करने वाले होते थे। वे प्रतीत होता है, छाँट-छाँट कर भेजे जाते थे, तभी तो मुट्ठी भर अँगरेज इस इतने बड़े देश पर एकछत्र शासन कर रहे थे। उनके विरुद्ध उनके परोक्ष में भी किसी को चूँ करने का साहस नहीं होता था। यह कहावत प्रसिद्ध थी, कि दीवालों के भी कान होते हैं दीवालें सुनकर उसे अँगरेजों से कह देंगी वैसे लखनऊ जेल में सहस्रों राजनैतिक वन्दी थे। किन्तु जिनके साथ विशिष्ट व्यवहार किया जाता था। ऐसे ३००–४०० ही होंगे। वहाँ के जेलाधिकारी ने समस्त प्रवन्ध पं०मोतीलालजी तथा जवाहरलाल नेहरू को सौंप दिया था, अपनी सुविधा के निमित्त पडित जी को सभी लोग आदर करते थे, और वे भी घूम-घूमकर सभी वैरिकों मे सबके दुःख-सुख पूछते। किसी को कोई असु-विधा होती तो, वे उसका तुरन्त निवारण का प्रयत्न करते।

प्रबन्ध सुचारु रीति से चल रहा था। किन्तु जरैला लोग सर्वत्र ही होते हैं। पं० जवाहरलालजी तो हम सब लोगों के साथ ही रहते थे। पं० मोतीलालजी योरोपिन भवन में रहते थे। वे राजसी ठाट-वाट के थे। उनके लिये सेवक चाकर भोजनादि की विशेष सुविधायें थीं। उदार प्रकृति के थे। अपने पास से फल आदि मँगाकर सबको वँटवाते। अतः कुछ लोग कहने लगे क्या मोतीलालजी ही नेता हैं, हम लोग नेता नहीं, उनको इतनी अधिक सुविधा क्यों दी जाती हैं।" इस प्रकार की बातें सुनते-सुनते पंडितजी के कान पक गये। उन्होंने प्रबन्ध से हाथ खींच लिया। अब तो कारावास अधिकारियों की वन आई। वे भाँति-भाँति की कड़ाई करने लगे नित्य ही किसी न किसी बात को लेकर झगड़ा होता। अब जेल में करते क्या, यही झगड़ा टटा, अलोचना प्रत्यालोचनायें होतीं। स्वाध्याय प्रेमी तो कुछ इने गिने ही पुरुष थे।

जेल का मुख्य अधिकारी कर्नलक्लीमेंट सैनिक था। बहुत ही रूखा तथा घमण्डी था। आवश्यकता से अधिक लम्बा था। लोग उसे भाँति-भाँति से चिढ़ाते।

एक जगद्गुरु शंकराचार्य भारतीय कृष्णतीर्थ जी के शिष्य दण्डी स्वामी भास्करानन्दजी भी हमारे साथ में थे। वड़ी उग्र प्रकृति के थे। वे दीवाल पर श्रीकृष्ण का चित्रपट लगाये हुए थे। कारावास के नियमों के अनुसार कील गाड़कर कोई किसी प्रकार की वस्तु नहीं लटका सकता। क्लीमेंट ने उसे हटाने को कहा। हमारे स्वामीजी भी कुछ कम नहीं थे। अड़ गये, लड़ पड़े तब उसने बलपूर्वक चित्र हटवा दिया। इस बात को लेकर पूरी जेल में बड़ा भारी आन्दोलन हुआ। तिकड़म से सैकड़ों चित्र मँगाये गये। सभी ने अपनी-अपनी वैरिकों में चित्र लगा

लिये और क्रौमेंट के आने पर ध्यान का ढोंग करने लगे। अँगरेज
समय देखकर काम करते थे। फिर उसने किसी से कुछ नहीं
कहा। भास्करानन्दजी को फैजावाद भेज दिया। और भी बहुत
से लोगों को नीचे की श्रेणियों में करके विभिन्न जेलों में भेज
दिया। इस प्रकार नित्य ही किसी न किसी बात पर अधिकारियों
से चख-चख होती।

जब हम जेल में ही थे, तभी चौरी चौरा (गोरखपुर जिले
मे) एक कांड हो गया। उत्तेजित भीड़ ने पुलिस के लोगों पर
घातक प्रहार कर दिये। कइयों की मृत्यु हो गयी। इस पर देश भर
में बड़ी चख-चख मची। गान्धीजी ने आन्दोलन को स्थगित कर
दिया। सभी निराश हो गये। जेल मे अब तक लोग यह आशा
लगाये हुए थे कि कुछ समझौता हो जायगा, हम शीघ्र ही छूट
जायँगे, किन्तु सब की आशाओं पर पानी फिर गया। माहात्मा-
गान्धीजी भी पकड़ लिये गये। उनको ६ वर्ष का कारावास का
दण्ड मिला। प्रायः सभी प्रसिद्ध-प्रसिद्ध राजनैतिक नेता पकड
लिये गये। आन्दोलन एक प्रकार से शान्त सा ही हो गया। जेलों
के भीतर तथा बाहर भी एक प्रकार का निराशा का वातावरण
व्याप्त हो गया।

वैसे अँगरेजों को यह तो विश्वास था, कि असहयोगी वीर
जान-बूझकर किसी की हिंसा न करेंगे। अच्छे अँगरेज मन-ही-
मन इन स्वतन्त्रता के प्रेमी वीरो के प्रति आदर का भाव रखते थे
और इनका विश्वास भी करते थे। इसका एक उदाहरण है।

आगरा जेल से कुछ सत्याग्रही लखनऊ जेल [illegible]
अँगरेज सारजेंटों की देख-देख मे लाये जा रहे थे। [illegible]
आकर गाडी बदलनी थी। लखनऊ जाने वाली [illegible]
घण्टे की देरी थी। कुछ लोगों ने अँगरेज [illegible]

"गाड़ी में तो अभी देरी है आपकी अनुमति हो तो हम गङ्गा स्नान कर आवें।"

उसने बिना किसी हिचक के कहा—"बहुत अच्छा जाइये, समय पर आ जाइये।"

यह देखिये कितने साहस का, कितने विश्वास का कार्य था। वैसे जेली को कोई भी पुलिस वाला एक मिनट को नहीं छोड़ सकता। उसने सजा पाये जेलियों को बिना किसी पुलिस के जाने की आज्ञा दे दी। सबके सब चले गये। जहाँ जेल से बाहर देखने तक को नहीं मिलता था। वहाँ वे सब स्वतन्त्र होकर कानपुर के बाजारों में घूमने लगे। कोई अपने सम्बन्धियों से मिलने गया, कोई गङ्गा स्नान को गया। गाड़ी का समय होते ही सब लौट कर आ गये। सारजेंट ने पूछा—"सब आ गया ?"

कुछ ने कहा—"३-४ नहीं आये।"

वह बोला—"कोई परवाह नहीं। हम लिख देगा ४ कैदी भाग गया।" उसने बिना ही गणना किये हुए सबसे कहा—"बैठ जाओ" सब बैठ गये, गाड़ी छूटने ही वाली थी, तब तक वे ३-४ भी आ गये। दौड़कर गाड़ी में बैठ गये।"

इतना अँगरेजों को असहयोगियों पर विश्वास हो गया था। बाहर तो इतना विश्वास था, किन्तु भीतर नित्य ही झगड़े होते, किन्तु जेल के अधिकारियों को भी यह विश्वास था, कि ये जेल से भागेंगे नहीं। अतः वे घबराते नहीं थे। कठोर से कठोर मार्ग अपनाने में भी नहीं हिचकते थे।

जेल में विचित्र होली मनाने की बात तो हम पिछले संस्मरण में लिख ही चुके हैं, उसमें एक बात रह गयी उपद्रव प्रायः हमारे ही आवास से होते थे। क्योंकि हमारे आवास में ५०-६० आदमी थे। उनमें बड़े-से-बड़े नेता, बड़े-से-बड़े तिकड़मी तथा

उपद्रवी थे । हमारे भोजनालय में बहुत पवित्रता बर्ती जाती थी,-
उसमें काशी के पं० शिवविनायक मिश्र, बाबू सम्पूर्णानन्दजी
पं० लक्ष्मीनारायणजी आदि थे। पं० नरदेवशास्त्री, बरेली के
पं० वशीधरजी पाठक आदि और अमरोहा के डा० नरोत्तमशरण,
प० नाथूराम वैद्य और ला० बाबूलाल थे । डा० नरोत्तमशरण
बहुत ही लम्बे चौड़े और जैसे बने तैसे कार्य साधने वाले थे।
विचित्र होली के दिन अस्पताल से या जाने कहाँ से वे तिकड़म
से भाँग का सत्त्व ले आये । पान बनाकर उन्होंने उसमें भाँग का
सत्त्व लगा दिया । जिन-जिन ने वह पान खाया वे सबके सब नशे
मे पागल हो गये । मैं तो ब्रह्मचारी ही ठहरा मैं तो कभी पान या
और कोई भी किसी प्रकार की मादक वस्तु स्पर्श ही नहीं करता ।
किसानों के नेता बाबा रामचन्द्रजी, पं० वंशीधर पाठक, वैद्य
नाथूराम, पं० बदरीदत्तजी पांडेय ये लोग तो अचेत ही हो गये ।
यह कार्य किया तो हँसी में ही गया, किन्तु कारावास के नियम के
विरुद्ध, सदाचार तथा शिष्टता के विरुद्ध था। बा० रामचन्द्रजी
ने तो इसके प्रायश्चित स्वरूप नौ दिन का उपवास किया। वे भी
हमारे ही चौके मे भोजन करते थे। नौ दिन उन्होंने कुछ नहीं
खाया । लोगों का तो कहना था, वे पानी भी नहीं पीते थे ।

नरोत्तमशरणजी से प्रायः जेल के सभी साथी असंतुष्ट
रहते। वे तिकड़म बहुत करते थे। देवरिया के जिन अवधविहारी
लालजी मुख्तार की जेल में मृत्यु हो गयी, उसका जेल में भी
बाहर भी आन्दोलन मचा। सरकार की ओर से क्लीमेंट पर भी
डाँट पड़ी उनकी वेतन वृद्धि भी रोक दी गयी। उनके पक्ष में
कोई भी साक्षी देने को उद्यत नहीं थे। सुनते हैं इन्हीं डा० नरोत्तम
शरण ने उनके पक्ष में साक्षी दी जिससे वे निर्दोष सिद्ध
बात जेल भर मे फैल गयी। सभी उन्हें धिक्कारने

सुनते हैं इसी साक्षी के फल स्वरूप वे अवधि से पूर्व ही जेल से मुक्त कर दिये गये।

इस प्रकार की घटनायें प्रायः नित्य ही होतीं, लोग बाहर की बातें सुनने को लालायित रहते। जेल में समाचार पत्र मिलते थे कुछ समाचार पत्रों पर प्रतिबन्ध था उन्हें भी लोग तिकड़म से मँगा लेते थे। सबकी दृष्टि इसी पर लगी रहती कब छूटेंगे। बारदौली में क्या हुआ, मालवीय की गोलमेज समिति में क्या निश्चय हुआ। सत्याग्रह क्यों स्थगित किया गया, मान्टेगू के त्याग पत्र का क्या परिणाम हुआ, मालवीयजी के प्रयत्नों का क्या परिणाम हुआ। इन बातों की चर्चा रहती। मालवीयजी के पुत्र भतीजे और कई परिवार के लोग हमारे साथ थे। मालवीयजी उनसे मिलने लखनऊ जेल में भी आये थे। वे ही एक ऐसे थे जो सरकार और कांग्रेस के बीच में बिचौलिये का काम कर रहे थे। पहिले तो सरकार कुछ नरम पड़ी थी, लोगों को आशा थी, अब छूटे तब छूटे किन्तु पीछे सरकार का रुख कड़ा पड़ गया। दमन नीति बढ़ गयी। सैकड़ों लोगों को प्रथम श्रेणी से हटा कर द्वितीय, तृतीय श्रेणियों में भेजा जाने लगा। नित्य यही सुनते आज अमुक को द्वितीय श्रेणी में फैजाबाद भेजा जा रहा है, आज अमुक को साधारण कैदी बनाकर अमुक जेल में भेजा जा रहा है। जहाँ के जिलाधीश ने जिसके लिये जो श्रेणी लिख दी उसे तुरन्त वहाँ से हटा दिया। पं० नरदेवजी शास्त्री को जब साधारण कैदी बनाकर उनके पैरों में मोटी-मोटी बेड़ी पहिनाकर रायबरेली जेल भेजा गया तो मेरी आँखें में आँसू आ गये। पं० बदरीदत्तजी पांडेय को भी प्रथम श्रेणी से हटाकर देहरादून भेजा गया, बाबा रामचन्द्र को साधारण कैदी बनाकर बरेली केन्द्रीय जेल में भेजा गया। इस प्रकार नित्य ही प्रथम श्रेणी के लोग विभिन्न जेलों में

भेजे जाने लगे। नये लोग तो प्रथम श्रेणी में आते ही नहीं थे। आते भी तो बहुत न्यून सर्वत्र निराशा व्याप्त हो गयी। पं० मोती लालजी ने छूटकर स्थान-स्थान पर जाना आरम्भ कर दिया था। हम अब कुछ ही लोग रह गये थे।

अन्त में मेरे छूटने का दिन आया। मुझे छूटने की कोई प्रसन्नता नहीं थी, किन्तु इतने अच्छे लोगों से वियोग का दुःख था। जैसे परिवार के लोग अपनी पुत्री को बिदा करते हैं, उसी प्रकार सभी ने फाटक तक मुझे अत्यन्त स्नेह से बिदाई दी। मैं फूट-फूटकर रो रहा था। और भाईयों के नेत्र भी अश्रुपूर्ण थे। बड़े कष्ट से मैं बाहर हुआ। बाहर एक परिचित स्वागत के लिये आये थे। उनसे मैंने प्रयाग के 'इन्डीपेंडेन्ट' में अपने छूटने का तार दिला दिया। जो मेरे खुरजा पहुँचने के पहिले ही छप गया। खुरजा पहुँचा, वहाँ सर्वत्र सन्नाटा था, सब सूना-सूना लगा। सोचा अब गङ्गा किनारे अनूपशहर चलकर महीने भर रहकर चान्द्रायण व्रत करें। इसलिये मैं सबसे बिदा लेकर माँ जाह्नवी की क्रोड़ में क्रीड़ा करने अनूपशहर चला गया। अब अनूपशहर का वृत्तान्त अगले संस्मरण में—

छप्पय

सदा एक-सो समय भयो नहिँ कबहूँ होगो।
छिन-छिन बदलत रहत परै सिर जैसो भोगो॥
सब वे ही हरि करत सबनिकूँ नाच नचावैं।
उन्नति-अवनति, ऊँच-नीच वे ई दरसावैं॥
वे ई सुख-दुख-जनम अरु, मृत्यु देत हैं सबनिकूँ।
सबमें जो उनिकूँ लखैं, दीखें सबमें उनहिँकूँ॥

ज्येष्ठ कृ० ५. २० २९
प्रतिष्ठानपुर-प्रयाग
} प्रभुदत्त

प्रजापति द्वारा इन्द्र को पुनः उपदेश

[१६४]

अथ हेन्द्रोऽप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श यथैव खल्वयमस्मिञ्छरीरे साध्वलङ्कृते साध्वलङ्कृतो भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृत एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्रामे स्रामः परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति ॥*

(छा० उ० ८ प्र० ६ ख० १ म०)

छप्पय

पथ महँ सोचत इन्द्र छाय तन सरिस अलंकृत ।
तन खंडित, अरु अंध, मृतक, छाया हू ह्तवत ॥
छाया आत्मा नहीं लौटि अज शङ्क सुनाई ।
पुनि बत्तिस ब्रमचर्य कर्यो तब अज बतलाई ॥
स्वप्न शरीरहि आतमा, तन खंडित खंडित नहीं ।
इन्द्र सोचि अज तैं कहे, स्वप्न दुःख रुदनहु वहीं ॥

---

* तदनन्तर इन्द्र तो देवताओं के समीप बिना ही पहुँचे छाया पुरुष मे उन्हें यह आशंका हुई, कि भली प्रकार शरीर के अलङ्कृत होने पर छाया भी अलङ्कृत दीखती है, भव्य वस्त्र धारण करने पर वह भी भव्य वस्त्रधारी तथा परिष्कृत दीखती है उसी प्रकार शरीर के अंधे होने पर अन्धी, काना होने पर कानी और शरीर के नष्ट होने पर नष्ट हो जायगी।"

आत्मा को पाप शून्य, जरा रहित, मृत्यु से रहित, शोक से रहित तथा क्षुधा पिपासा से रहित, सत्यकाम और सत्य सकल्प बताया है। इस प्रकार आठ विशेषण देकर आत्मा को अजर, अमर, निर्दोष तथा सभी प्रकार की उपाधियों से रहित सिद्ध किया है। देखा जाय तो छाया में जो पुरुष दिखायी देता है, वह कोई पाप करता हुआ, क्षुधा पिपासा से रहित, शोक मृत्यु से रहित दीखता है, किन्तु शान्ति पूर्वक विचार किया जाय, तो छाया पुरुष में अपना कुछ भी गुण नहीं है। इस शरीर को नङ्गा करके देखो तो छाया नगी दिखायी देगी। शरीर को सजा बजा कर देखो, छाया सजी दिखाई देगी, रोते हुए छाया देखो तो रोती हुई दिखायी देगी, डडा लिये कमर लचाकर बूढे के रूप में छाया देखो, तो छाया बूढी दिखायी देगी, जो दोष शरीर में हैं, वे ही दोष छाया मे भी दीखेंगे। जाग्रत पुरुष में जो-जो बातें हैं, वे ही छाया में भी हैं। इसी प्रकार के दोष स्वप्न पुरुष तथा सुषुप्त पुरुष में भी हैं। मर्त्य शरीर में तो ये सब हैं ही, इस प्रकार ब्रह्माजी ने इन्द्र की योग्यता के अनुसार ज्यों-ज्यों उनकी बुद्धि विकसित होती गयी त्यों-त्यों उत्तरोत्तर श्रेष्ठ से श्रेष्ठ उपदेश देते रहे। और अन्त में कारण रूप से आकाश सज्ञक ब्रह्म का उपदेश दिया।

उपदेश करने वाले आचार्य को शिष्य की बुद्धि देखकर उप देश करना चाहिये। सभी पुरुष सम्पूर्ण ज्ञान के अधिकारी नहीं होते। उपदेश पात्रता की परीक्षा करके दिया जाता है। तुम्हारा जितना बडा पात्र होगा, उसमें उतना ही जल आवेगा। उससे अधिक उसमें आ ही नहीं सकता, चाहें आप उस पात्र को तालाब में डुबोइये अथवा कूआ, नदी, बावरी तथा समुद्र में डुबोइये सभी में डुबोने पर बराबर ही जल आवेगा। इसी प्रकार आप मे जितनी समझने की योग्यता है, उसके आधार

पर आप चाहे जिस योग्य आचार्य के पास जाओ उतना ही समझ सकोगे। समस्त लोकों के एकमात्र प्रपितामह सम्पूर्ण सृष्टि के कर्ता वेदगर्भ ब्रह्माजी के पास जाकर उनसे उपदेश पाकर असुरराज विरोचन तो शरीर को ही आत्मा मानकर सन्तुष्ट हो गये। किन्तु इन्द्र की बुद्धि सूक्ष्म थी, उनका पात्र बड़ा था, वह ब्रह्माजी के इस उपदेश से सन्तुष्ट नहीं हुए-उनका घड़ा इतने ही ज्ञान से परिपूर्ण नहीं हुआ-इसीलिये वे बार-बार मनन करते हुए पूछते ही गये और अन्त में उनका ज्ञान घट परिपूर्ण हो गया उन्होंने तुर्यावस्था का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लिया। जब तक जीवन में यथार्थ वस्तु को जानने की जिज्ञासा जाग्रत नहीं होती। मनन करते हुए उस विषय की विशेष ऊहा पोह नहीं होती,तब तक यथार्थ ज्ञान होता नहीं। यह बात प्रजापति और इन्द्र के सम्वाद से सिद्ध होती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! लोक में दैवी और आसुरी दो प्रकार की सम्पत्तियाँ होती हैं, जिनका वर्णन भगवान् ने श्रीमद्-भगवत् गीता में किया है और जिनके सम्बन्ध में पीछे विस्तार से बता चुके हैं। आसुरी प्रकृति के पुरुष भोग और ऐश्वर्य प्रसक्त होने के कारण देहात्मवादी होते हैं, देह को ही आत्मा मानकर उसके लालन पालन तथा उसे परिपुष्ट करने में ही सन्तुष्ट रहते हैं। उनके मन में यह विचार ही नहीं उठता, कि अनित्य क्षण-भंगुर देह नित्य शाश्वत धर्म वाला आत्मा कैसे हो सकता है, इसीलिये विरोचन देह को ही आत्मा मानकर सन्तुष्ट हो गये।

किन्तु वे इन्द्र तो दैवी सम्पत्ति सम्पन्न थे। वे सत्त्व संशुद्धि-युक्त अन्तःकरण की निर्मलता से युक्त थे। वे जाते समय उसी उपदेश का निरन्तर मनन करते जाते थे। वे अभी देवताओं के

समीप पहुँचे नहीं थे, तभी उनके मन में एक आशका उत्पन्न हो गयी। वे सोचने लगे—"भगवान् प्रजापति ने छाया पुरुप को ही ब्रह्म बताया है। उन्होंने हमें भली प्रकार अलकृत होकर, वस्त्राभूपण धारण कराकर भली भाँति परिष्कृत कराकर जल में हमारा प्रतिविम्ब दिखाया था। हमने जैसे वस्त्र पहिने थे, जैसे अलकृत हुए थे जैसे परिष्कृत होकर खडे हुए थे, हमारी छाया वैसे ही दिखाई दी थी। उस समय हम प्रसन्न मुद्रा में हँस रहे थे, छाया भी प्रसन्न मुद्रा मे हँस रही थी। हमारे शरीर की वह प्रतिकृति ही थी, किन्तु छाया का स्वभाव सदा अलकृत परिष्कृत होकर प्रसन्न होने का ही तो नहीं है। शरीर यदि अन्धा हो तो छाया भी अन्धी दीखेगी, शरीर यदि काणा हो तो छाया भी काणी दीखेगी। शरीर यदि मल से लिथरा हो तो छाया भी मलावृत्त दिखायी देगी, शरीर का हाथ पैर आदि कोई अग टूटा, छोटा, बडा हो, तो छाया भी तदनुरूप दिखायी देगी। इस शरीर के नष्ट होने पर प्रतिविम्ब का भी नाश हो जायगा। तव आत्मा में जो अभय, अमृत, अजरा, विशोकादि है वे गुण तो छाया में नहीं है। इसलिये शरीर अथवा उसका प्रतिविम्ब—छाया पुरुप का—आत्मा होना सभव नहीं। देवताओं ने मुझसे कहा था, आप आत्मज्ञान का उपदेश प्राप्त करके उसका उपदेश हमे भी आकर करना। जब आचार्य के बताये हुए ज्ञान के प्रति मुझे सशय है, तो मैं उन्हें क्या उपदेश करूँगा। इसलिये अब आगे न बढना चाहिये। सर्वप्रथम आचार्य के निकट पुन: जाकर अपनी शका का समाधान कर लूँ, तब देवताओं के समीप जाकर उन्हें आत्मतत्व का उपदेश करूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! बीच मार्ग में ही जब इन्द्र ऐसे विचार हुए, उन्हें छाया पुरुप के आत्मा में सदेह

गया, तो फिर वे आगे की ओर स्वर्ग की दिशा में नहीं बढ़े, वे प्रजापति के निकट जाने के लिये लौट पड़े।"

गुरु के समीप रिक्त हस्त न जाना चाहिये ऐसा सदाचार है, अतः वे समित्पाणि होकर हाथ में समिधा फूल फल लेकर प्रजापति के समीप गये। उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम करके नम्रता के साथ नीची दृष्टि करके उनके सम्मुख खड़े हो गये।

अपने सम्मुख नम्रतापूर्वक समित्पाणि इन्द्र को खड़े देखकर भगवान् प्रजापति बड़े ही स्नेह के साथ उनसे बोले—"वत्स! इन्द्र! तुम तो अभी-अभी विरोचन के साथ अपने को कृतार्थ मानकर शान्त चित्त से उसके साथ अपने स्थान को चले गये थे। फिर तुम लौट क्यों आये? तुम अब पुनः लौटकर किस इच्छा से यहाँ आये हो?"

यह सुनकर इन्द्र ने कहा—"भगवन्! आपने छाया पुरुष को आत्मा बताया, इस विषय में मुझे एक शंका उत्पन्न हो गयी है, उसके समाधानार्थ मैं पुनः आपकी सेवा में समुपस्थित हुआ हूँ।"

प्रजापति ने कहा—"क्या शङ्का उत्पन्न हुई, उसे मुझे बताओ। मैं उसका समाधान करूँगा।"

इन्द्र ने कहा—"भगवन्! आपने हमें वस्त्राभूषणों से भली-भाँति अलङ्कृत कराकर, सुवेषधारी बनाकर, सब प्रकार से परिष्कृत कराकर तब हमारी छाया दिखायी, तो हमें देह के सदृश वैसी ही सुन्दर सुसज्जित, शोकरहित प्रसन्न मुद्रायुक्त छाया दिखायी दी। अब शङ्का यह उठी कि यदि शरीर अन्धा हो, काणा हो, खण्डित हो, नष्ट हो गया हो, तो क्या छाया वैसी दिखायी न देगी?"

प्रजापति ने कहा—"छाया भी वैसी ही अवश्य दिखायी देगी।"

तब इन्द्र ने कहा—"तो फिर देह या देह की छाया आत्मा कैसे हो सकती है ?"

यह सुनकर प्रजापति हँस पड़े। उन्होंने कहा—"इन्द्र ! वह मेरा उपदेश सत्य नहीं था, वह बात तो मैंने तुम्हारी पात्रता की परीक्षा के निमित्त कही थी। देखो, असुरराज विरोचन तो लक्षणा से देह को ही आत्मा मानकर अपने को कृतार्थ समझकर चला गया। उसके मनमें कोई शंका भी उत्पन्न नहीं हुई, क्योंकि वह आसुरी प्रकृति का देहात्मवादी है। तुमने जो शंका की, वह सत्य ही की, देह अथवा छाया आत्मा नहीं है। अब तुम बत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए और रहो। तब तक तो तुम्हारा अन्तःकरण और भी अधिक निर्मल बन जायगा, तब मैं तुम्हारे प्रति इस विषय की और भी सूक्ष्मता के साथ व्याख्या करूँगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"[illegible] शिरोधार्य करके इन्द्र वहाँ [illegible] पालन करते हुए और रहे। [illegible] एक दिन प्रजापति ने [illegible] वस्तुएँ दिखाई देती हैं, [illegible]

इन्द्र ने कहा—"[illegible] देखता है।

भगवान् प्रजापति ने [illegible] कटा हुआ दिखाई देता [illegible] स्वप्न पुरुष नहीं मरता। [illegible] और ब्रह्म है।"

ब्रह्माजी के इस उपदेश को सुनकर, अपने को कृतार्थ मानकर, प्रजापति से अनुमति लेकर इन्द्र पुनः देवताओं के समीप स्वर्ग लोक की ओर चल दिये। मार्ग में वे इसी विषय पर मनन करते जाते थे। वे सोचने लगे प्रजापति ने स्वप्न पुरुष को ब्रह्म बताया है। स्वप्न पुरुष वैसे है तो सूक्ष्म। शरीर अंधा हो, तो भी स्वप्न पुरुष अधा नहीं होता। शरीर काणा हो तो भी स्वप्न शरीर काणा नहीं होता। यद्यपि छाया पुरुष की भाँति यह शरीर के दोष से दूषित नहीं होता, स्वप्न में शरीर का कोई वध करदे, नष्ट कर दे, तो भी स्वप्न पुरुष नष्ट नहीं होता, मरता नहीं। वह साक्षी होकर देखता ही रहता है। तथापि दुख देने पर स्वप्न पुरुष दुखी होता है, भय का प्रसंग आने पर भयभीत हो जाता है। स्वप्न में कोई इसे मारता है, ताड़ित करता है, तो इसे दुःख होता है, कोई भगाता है, तो भयभीत होकर भागता है, परिजन प्रियजनों का वियोग होने पर दुःख का अनुभव करता है, रुदन करता है। इसलिये इस स्वप्नात्मदर्शन पुरुष में आत्मा के जो अमृत, अभय अशोकादि गुण हैं, वे इसमें नहीं हैं। अतः स्वप्न पुरुष परब्रह्म नहीं हो सकता।" ऐसा विचार कर इन्द्र बीच में से ही पुनः लौट पड़े। पुनः वे समित्पाणी होकर प्रजापति की सेवा में समुपस्थित हुए। उन्हे पुनः आया हुआ देखकर ब्रह्माजी ने उनसे फिर वही प्रश्न किया—"इन्द्र! तुम तो शान्त चित्त होकर-शंका का समाधान प्राप्त करके गये थे, अब फिर क्यों लौटकर आये?"

इन्द्र ने कहा—"भगवन्! फिर भी एक शंका रह ही गयी।"

प्रजापति ने कहा—"कौन-सी शंका रह गयी, उसे भी कह डालो।"

इन्द्र ने कहा—"प्रभो! यह तो सत्य है, कि स्वप्न पुरुष शरीर के अंध रहने पर अनन्ध रहता है, शरीर के काने होने पर यह काणपने से रहित होता है, शरीर के वध से इसका वध भी नहीं होता। किन्तु मारने ताड़ने का, स्वजन वियोग का, गाली तथा कटु वचन का प्रभाव तो स्वप्न पुरुष पर भी पड़ता है, वह दुखी चिंतित होता है, रोता झींकता भी है।" जब यह मत्र है तो स्वप्न पुरुष आत्मा अथवा ब्रह्म कैसे हो सकता है।"

यह सुनकर ब्रह्माजी हँस पड़े। वे हँसते हुए बोले—"इन्द्र! तुम्हारा कहना यथार्थ है। यह जो मैंने स्वप्न पुरुष को आत्मा बताया, यह मेरी व्याख्या यथार्थ नहीं है। तुम्हारी पात्रता की परीक्षा हेतु ही मैंने ऐसे कह दिया। अब इस आत्मातत्त्व की तुमसे दूसरे ढँग से व्याख्या करूँगा। तुम बत्तीस वर्ष ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए मेरे समीप और निवास करो।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! भगवान् प्रजापति की आज्ञा से इन्द्र ने विधि विधान पूर्वक बड़ी निष्ठा से बत्तीस वर्ष ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करके ब्रह्माजी के पास और निवास किया। जब बत्तीस वर्ष पूरे हो गये, तब एक दिन लोक पितामह ब्रह्माजी ने इन्द्र से कहा—"जाग्रत में तो विश्व को देखता है, स्वप्न में स्वप्न पुरुष शरीर से तटस्थ होकर स्वप्न देखता है। सुषुप्ति अवस्था में प्रगाढ़ निद्रा के समय-आनन्द का अनुभव कौन करता है?"

इन्द्र ने कहा—"उस समय न तो विश्व की वस्तुएँ ही दिखाई देती हैं और न स्वप्न का ही अनुभव होता है उस समय आनन्द की अनुभूति सुषुप्त पुरुष ही करता है।"

ब्रह्माजी ने कहा—"बस, वह सुषुप्त पुरुष ही अमृत, अभय, ब्रह्म है। क्योंकि उस समय जाग्रत, स्वप्न से परे केवल आनन्द का ही अनुभव वह करता है। वह साक्षी है।"

ब्रह्माजी के इस उपदेश को सुनकर इन्द्र पुनः शान्त चित्त से स्वर्ग की ओर चल दिये। मार्ग में वे बार-बार इसी विषय का मनन करते जाते थे। उन्होंने सोचा—"प्रजापति ने सुषुप्ति अधिष्ठातृ पुरुष को ब्रह्म बताया है। किन्तु सुषुप्ति अवस्था में तो यह "मैं हूँ" यह भी ज्ञान उसे नहीं रहता। जब अपना ही ज्ञान नहीं रहता तो अन्य भूतों का ज्ञान तो होगा ही कैसे? सुषुप्ति अवस्था एक प्रकार से मृतक अवस्था है-विनाश की अवस्था है-इसमें अमृत, अभय और परिज्ञान का अभाव है। इसमें मुझे योग्य इष्ट फल-दृष्टि गोचर नहीं होता।"

ऐसा सोचकर वे पुनः समित्पाणि होकर ब्रह्माजी की सेवा में समुपस्थित हुए। ब्रह्माजी ने इनसे पुनः पूछा—"इन्द्र! और भी कोई शंका रह गयी क्या? अब के तो तुम पूर्ण शान्त चित्त गये थे?

इन्द्र ने कहा—"भगवन्! सुषुप्ति अवस्था ज्ञान की नहीं, अज्ञान की अवस्था है। इस अवस्था में तो यह भी ज्ञान नहीं होता कि "यह मैं हूँ।" अन्य भूतों का ज्ञान तो रहता ही नहीं। विनाश को प्राप्ति-सी अवस्था वाले सुषुप्त पुरुष को आप अमृत, अभय, ब्रह्म क्यों बताते हैं। इसमें तो मुझे अपना इष्ट फल दृष्टि गोचर होता हुआ जान नहीं पड़ता।"

यह सुनकर ब्रह्माजी हँस पड़े और बोले—"इन्द्र! अब हम इस विषय को स्पष्ट बतावेंगे सुषुप्त पुरुष को ब्रह्म तो मैंने तुम्हारी धारण शक्ति—ज्ञान परीक्षा के निमित्त बताया। इस विषय को तुम्हें मैं विस्तार के साथ पुनः समझाऊँगा। आत्मा इससे भिन्न नहीं है तुम पाँच वर्ष तक अभी और ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके मेरे पास रहो। अब के तुम्हें १०१ वर्ष हो जायँगे। इतने दिनों

में ब्रह्मचर्य तप से तुम्हारा अन्तःकरण सर्वथा परिशुद्ध हो जायगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! भगवान् ब्रह्मा की आज्ञा से इन्द्र ने पाँच वर्ष तक और ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके नियम संयम पूर्वक निवास किया। इस प्रकार सब मिला कर १०१ वर्ष हो गये। इसी से लोक में यह कहावत प्रचलित है, कि इन्द्र ने ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके ब्रह्माजी के समीप एक सौ एक वर्ष तक वास किया। जब पूरे १०१ वर्ष हो गये तब एक दिन ब्रह्माजी ने इन्द्र से कहा—"देखो, इन्द्र तुम्हें मैं रहस्य की बात बताता हूँ। शरीर क्या है?"

इन्द्र ने कहा—"यह पाँच भूतों का समूह ही शरीर है।"

प्रजापति ने कहा—"सरीर तो जड़ है इसे प्रिय अप्रिय का ज्ञान कैसे होता है? जड़ को तो सुख-दुख नहीं होना चाहिये।

इन्द्र ने कहा—"शरीर को तो दुख सुख-अप्रिय नहीं होता, किन्तु जब इसमें जीवात्मा का सम्बन्ध हो जाता है तब यह दुख-सुख, प्रिय अप्रिय की अनुभूति करने लगता है।"

प्रजापति ने कहा—"तुम्हारा कहना यथार्थ है। शरीर तो मरणशील नाशवान् है ही। शरीर तो मृत्यु से ग्रस्त ही है। यह शरीर आत्मा का अधिष्ठान है—आयतन है, रहने का स्थान है। जब आत्मा शरीर हो जाता है, किसी भी शरीर को ग्रहण करके उसमें अपनापन स्थापित कर लेता है, तो वह निश्चय ही प्रिय-अप्रिय सुख-दुख से ग्रस्त हो जाता है। आत्मा जब तक शरीर की उपाधि से युक्त रहेगा, तब तक उसके प्रिय अप्रिय का विनाश न होगा। जहाँ शरीर की उपाधि त्यागकर आत्मा अशरीर हुआ नहीं,कि उसे फिर सुख-दुख प्रिय-अप्रिय स्पर्श भी नहीं कर सकते जितना भी दुःख है प्रिय अप्रिय का भान है यह सब शरीर

न्ध से ही है। आत्मा जहाँ शरीर से असम्बद्ध हो गया फिर वह निर्द्वन्द्व निराकार, अविनाशी, अमृत, अभय हो जाता है। देखो, वायु अशरीर है। वायु को कोई देखता नहीं स्पर्श से जानते हैं। अभ्र बादल भी अशरीर हैं। जो बिजली चमकती है उसका भी कोई शरीर नहीं होता, ये जो घन आकाश में गर्जते तर्जते हैं उस मेघ ध्वनि का भी कोई शरीर नहीं। वायु, अभ्र, विद्युत तथा मेघ ध्वनि ये सब आकाश में से ही समुत्थान करते हैं आकाश में से उठते हैं फिर सूर्य की परम ज्योति को प्राप्त करके अपने प्रथम स्वरूप में परिणत हो जाते हैं। जैसे वायु एक है, वही अपने कारण द्रव्यों को पाकर १-आवह, २-प्रवह, ३-उदहास, ४ महान, ५-वरीवह, ६-विनह और ७-परावह इन सात नामों से विख्यात हो जाती है। जब अपने-अपने कारण द्रव्यों से पृथक् होकर-कार्यावस्था त्याग देती है, तो पुनः अपने वायु रूप में अवस्थित हो जाती है। अभ्र उसे कहते हैं जब बादलों में जल भरा हुआ हो, जल भरे अभ्र जब वर्षोन्मुख होते हैं। वर्षा करने को उद्यत हो जाते हैं, तब उनकी मेघ संज्ञा हो जाती है जब अभ्र अपने कारण द्रव्य जल आदि को प्राप्त करके मेघ बनकर बरस जाते हैं, जब वे जल को बरसा देते हैं अपनी कार्यावस्था को त्याग देते हैं तो पुनः अभ्र के अभ्र रह जाते हैं। अपने कारण भूत स्वरूप में अवस्थित हो जाते हैं। जैसे विद्युत् है, उसका अपना स्वरूप है, जब बादलों के संघर्ष से अपने कारण द्रव्य को पाकर चमकने दमकने लगती है, हम कहते हैं बिजली चमक रही है। जब बिजली चमक दमक रूप जो कार्य है, उन्हें छोड कर अपने तेज रूप में अवस्थित हो जाती है ऐसे ही मेघों के गर्जन है। कारण को पाकर गर्जने लगते हैं। गर्जन को छोड़कर शांत होकर चुप हो जाते हैं तो आकाश से उठकर सूर्य की परम

ज्योति को प्राप्त होकर अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाते हैं, उसी प्रकार यह जीवात्मा इस पाचभौतिक कुत्सित सम्प्रसाद देह से पृथक् होकर परम ज्योति को प्राप्त करके अपने स्वरूप मे स्थित हो जाता है। तब वह देह की उपाधि का परित्याग कर देता है। वही उत्तम पुरुष है, शरीर बन्धन से पृथक् हुआ यह जीवात्मा अपने स्वरूप में अवस्थित हुआ बिना शरीर के केवल अशरीरी होकर हँसता है, भाँति भाँति की क्रीडायें करता है, बिना शरीर के ही स्त्री, यान और ज्ञाति जनों के साथ सपर्क से जो आनन्द होता है उसका मन से ही अनुभव करता है। जिस पिछले शरीरो का वह परित्याग कर आया है, जिनसे सम्बन्ध विच्छेद कर आया है, उनका स्मरण भी नहीं करता। फिर भी अशरीरी होकर सब ओर स्वच्छन्द विचरण करता रहता है।

शौनकजी ने पूछा—'देह से पृथक् होकर अपने स्वरूप में स्थित होकर मुक्तात्मा पुरुष ब्रह्मलोक में सुखानुभूति करता है, वैसा इस लोक में शरीर के रहते क्यों नहीं करता।"

सूतजी ने कहा—"उस समय शरीर के ससर्ग के कारण जीवात्मा कर्मपाश में आवद्ध रहता है। वह जिस योनि में जाइये देह के बन्धन में बँधा रहेगा। जैसे कोई बैल है गाडी में जुता है, कोई घोडा है रथ में जुता है, तो वे जुते हुए घोडे बैल जहाँ जहाँ जायँगे रथ तथा गाडी उनके पीछे पीछे जायगी। जब वे रथ या गाडी से उन्मुक्त कर दिये जायँ, तब स्वच्छन्द हो जायँगे, फिर उनके पीछे कोई बन्धन नहीं रहेगा। इसी प्रकार ससारी दशा में प्राणसहचारी जीवात्मा कर्मपाश के वशीभूत होकर इस शरीर रूप रथ में जुता हुआ है। जब तक इसका शरीर से सम्बन्ध रहेगा, तब तक शरीर सम्बन्धी प्रिय अप्रिय से जुटा ही रहेगा। शरीर से पृथक् होते ही स्वच्छन्द होकर विचरण करेगा।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! आत्मा को हम जाने कैसे, कि यह आत्मा है। इसकी अनुभूति कैसे हो?

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन! लोक में किसी से पूछो यह घोड़ा, वाहन किसका है? तो वह कहेगा 'मेरा है'ये हाथ पैर किसके हैं, तो कहेगा मेरे हैं। मेरे पैर मे चोट है, मेरे हाथ उठते नहीं, मेरी आँख से दीखता नहीं, मैं कानों से सुनता नहीं,-मेरा मन स्वस्थ नहीं, मेरे चित्त में विक्षेप है, मेरी बुद्धि विभ्रमित हो गयी है। इन सब मे जो मेरा है वही आत्मा है। शरीर आत्मा नहीं, इन्द्रिय आत्मा नहीं, अन्तःकरण आत्मा नहीं। ये सब जिसके उपकरण हैं, इन सबके द्वारा जो अनुभव करता है, इन सबका जो स्वामी है वही आत्मा है।

देखो, जिसमें यह नेत्र द्वारा उपलक्षित आकाश अनुगत है। अर्थात् नेत्रों में जो रूप को प्रकाशित करके उस नेत्र द्वारा देखता है वह चाक्षुप पुरुप है। रूप ग्रहण करने के लिये चक्षु उसका उपकरण है।

जो यह अनुभव करता है, मैं अमुक गन्ध को सूघूँ वही घ्राणात्मा है, उसी के गन्ध ग्रहण करने का उपकरण नासिका है। अर्थात् चक्षु नासिका आदि इन्द्रियाँ आत्मा नहीं, जो इनके द्वारा देखता तथा घ्राणादि का अनुभव करता है, वही आत्मा है। जो यह अनुभव करता है, मैं वाक्य उच्चारण करूँ, वाणी के द्वारा जो बोलता है वही आत्मा है। वाग् इन्द्रिय उसी के शब्दोच्चारण का उपकरण मात्र है। जो यह अनुभव करता है, मैं सुनूँ और श्रवणेन्द्रिय के द्वारा जो सुनता है वह आत्मा है श्रोत्रेन्द्रिय उस आत्मा के शब्द श्रवण का उपकरण है।

जो यह जानता है कि मैं मनन करूँ और मन के द्वारा जो मनन करता है वह ही आत्मा है, मन उसके मनन करने का

उपकरण है। मन ही उसका दिव्य चक्षु है, उस दिव्य नेत्र के द्वारा आत्मा भोगों को देखता है, रमण करता है।

दहर आकाश में स्थित वह दहरात्मा ब्रह्मलोक में समस्त भोगों को देखता है, उनमें रमण करता है। उसी आत्मा की देवता गण उपासना करते हैं। इस आत्मोपासना का फल यह है, कि देवताओं को सम्पूर्ण सुखद लोक तथा समस्त आनन्द दायक भोग प्राप्त हैं। इन्द्र इस आत्म ज्ञान को प्राप्त करके स्वर्ग में गये वहाँ जाकर उन्होंने इसका उपदेश देवताओं को दिया। इसी से वे अशरीरी होकर पुण्यलोक तथा दिव्य भोगों को भोगते हैं।

देवताओं की बात छोड़ दो। जो भी साधक शास्त्र की विधि से आचार्य के उपदेशानुसार आत्म साक्षात्कार करेगा। आत्मा रूप स्वरूप का साक्षात् रूप से अनुभव करेगा। वह भी सम्पूर्ण पुण्य लोक तथा दिव्य भोगों को प्राप्त करेगा। यह उपदेश देवराज इन्द्र को प्रजापति ने दिया है, ब्रह्माजी ने ऐसा कहा है। निश्चय ही यह ब्रह्माजी द्वारा कथित उपदेश है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने भगवान् प्रजापति द्वारा इन्द्र के प्रति कहा हुआ उपदेश आप से कहा, अब आगे जैसे श्याम ब्रह्म से शबल ब्रह्म की प्राप्ति और आकाश नामक ब्रह्म का उपदेश देकर आत्मज्ञान की परम्परा बताकर इस छांदोग्य उपनिषद की समाप्ति कर दी जायगी। इसका वर्णन मैं आप से आगे करूँगा।"

छप्पय

लौटि इन्द्र पुनि शक प्रजापति आइ सुनाई।
ब्रह्मचर्य बत्तीस करयो तब कथा सुनाई॥
पुरुष सुषुप्ति हि आत्म इन्द्र पुनि त्रुटि दिखलाई।
होइ नाहिँ निज ज्ञान विनाश समान लखाई॥
आत्मा अद्वय एकरस, इन्द्रिय तिहिँ उपकरण सब।
आत्मा को साक्षात करि, प्राप्तलोक अरु भोग सब॥

(२)

मनन करूँ जो जानि, वही आत्मा है भाई।
दिव्य नेत्र मन तासु भोग भोगे सुखदाई॥
सुरगन भोगें भोग लोक सुख इहि तैं पावैं।
साधक अनुभव करैं, दिव्य ते हू है जावैं॥
आत्म-उपासन प्रजापति, देवराज के प्रति कही।
शबल और आकाश की, कहौं उपासन जो रही॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के अष्टम अध्याय में नवम, दशम, एकादश और द्वादश खण्ड समाप्त।

—o—

श्याम शबल, आकाश ब्रह्म और आत्मज्ञान फल

[१६५]

श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्येऽश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामीत्यभिसम्भवामीति ॥ ❀

(छा० उ० ८ प्र० १३ ख० १ मं०)

छप्पय

श्याम ब्रह्म तैं शबल ब्रह्म कूँ प्रापत होऊँ।
शबल ब्रह्म तैं श्याम ब्रह्म में तन्मय होऊँ॥
घोड़ा रोमनि झारि तुरत निरमल ह्वै जावै।
चन्द्र राहु मुख निकसि रूप अपनो निज पावै॥
त्यौं हौं पापनि झारिकें, निष्कल्मष निष्पाप बनि।
ब्रह्मलोक कूँ प्राप्त करि, तजि नर तन ह्वै जाउँ धनि॥

❀ मैं श्याम से शबल को प्राप्त होऊँ और शबल से श्याम को। घोड़ा जैसे रोमों को झाड़कर निर्मल बन जाता है, वैसे ही मैं पापों को परित्याग करके राहु के मुख से जैसे चन्द्रमा छूटकर निज स्वरूप को प्राप्त करता है वैसे ही चन्द्रमा के समान मैं भी शरीर को त्यागकर कृतात्मा होकर नित्य ब्रह्मलोक को प्राप्त होऊँ।

पृथ्वी के कण-कण के संस्कार इस शरीर और मन में व्याप्त हो जाते हैं। शरीर संस्कारों के ही ऊपर टिका है। माता-पिता के—जन्म स्थान के—संस्कार शरीर के रोम-रोम में व्याप्त हो जाते हैं। जीव माता के स्तनों से दुग्ध पान करता है, तो वह केवल दूध ही नहीं पीता। माता के हृदयस्थ भावों का भी पान करता है, माता के हृदयस्थ संस्कार भी दूध के साथ उसके शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं। माता का स्नेह भी उसके रोम-रोम में समा जाता है। माता के साथ ही उत्पत्ति स्थान का प्रेम भी उसके शरीर में छा जाता है। जन्मस्थली—जन्मभूमि—के प्रति आकर्षण होना भी जीव का स्वाभाविक धर्म है। जननी और जन्मभूमि में प्रियता होना स्वाभाविक है।

जिसका जिसमें प्रेम होगा, उसी को जीव प्राप्त होगा, अतः प्रजावान् पुरुष प्रजावान् लोकों को ही प्राप्त होते हैं, वे जन्म-मरण के चक्कर से छूट नहीं सकते। क्योंकि प्रजा के प्रति और प्रजा के उत्पत्ति स्थान के प्रति उसका अनुराग हृदय में बना ही रहता है, इसलिये उन्हें मातृ गर्भ में वास करना पड़ता है। किन्तु उपासना द्वारा जिनका प्रजाओं के प्रति और प्रजा प्रजनन स्थान के प्रति वैराग्य हो गया है, उनके प्रति अरुचि उत्पन्न हो गयी है, उन्हें पुनः शरीर धारण नहीं करना पड़ता। वे प्रजावान् लोकों को—भू-भुव, स्व और महः इन लोकों को पार करके—प्रवृत्ति मार्ग से प्राप्त लोकों को नाधकर, अप्रजावान लोकों को अपुनरावृत्ति—तप, सत्य और ब्रह्म लोकों को प्राप्त होते हैं, जहाँ से प्रायः पुनः लौटकर आना नहीं पड़ता। जन्म होता है, जन्मस्थान—प्रजनन स्थली—के प्रेम के कारण अतः साधक प्रभु से यही प्रार्थना करता है, कि उसके प्रति मेरा अनुराग न रहे। उस बिना दाँत के खाने वाली—पके बेर के से वर्ण वाली, शशि प्रभश्वेत वर्ण वाली धातु

को भक्षण करने वाली स्थली को मैं प्राप्त न होऊँ। न उसमें से निस्सरण करूँ और न उसमें बिन्दु रूप से प्रवेश ही करूँ।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! तपस्या से, स्वाध्याय से और ईश्वर प्रणिधान भगवत् भक्ति से प्रभु की प्राप्ति होती है। तपस्या कहते हैं, ससारी भोगों के परित्याग को। स्वाध्याय कहते हैं वेद मन्त्रों के जप को और ईश्वर प्रणिधान कहते हैं भगवत् विश्वास को। ईश्वर है यह बात अन्तःकरण में भली-भाँति बैठ जाय, घुस जाय। ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास हो जाय। इस प्रकार जो भगवान् पर विश्वास करके, संसारी भोगों का परित्याग करके वेद मन्त्रों का निरन्तर जप करता रहेगा वह अवश्य ही कृतार्थ हो जायगा। उसे नित्य धाम ब्रह्मलोक की प्राप्ति होगी, जहाँ से फिर कभी लौटकर नहीं आना पड़ता।"

मन्त्र तीन प्रकार के होते हैं, एक तो ऐसे मन्त्र है जिनका प्रयोग केवल जप कर्म में ही होता है। उनके अर्थ का विशेष महत्व नहीं। उनके उच्चारण मात्र से ही फल होता है। दूसरे ऐसे होते हैं, जिनके अर्थ के अनुसार यज्ञादि क्रियायें की जाती हैं। तीसरे ऐसे होते हैं, जिनका जप भी किया जाता है, उस मन्त्र के अर्थ की भी जप के साथ-साथ भावना की जाती है। 'श्यामाच्छ-बलम्' ऐसा ही मन्त्र है। इस मन्त्र को इसके अर्थ की भावना सहित शुद्धचित्त से नियम संयम पूर्वक जपना चाहिये। मन्त्र तो ऊपर लिखा ही है अब इसके अर्थ को बताते हैं।

"तैत्तरीय आरण्यक में परब्रह्म परमात्मा का स्वरूप जैसे नील जल में विद्युत् लेखा के समान प्रकाशवान् हो ऐसा बताया है।" जल भरे नूतन मेघों के समान परमात्मा का स्वरूप है। जैसे कोई नील मणि को मक्खन में घिसकर उसके बीच में बिजुली को बैठा दे। ऐसा हमारे श्यामसुन्दर का स्वरूप है। अत्यन्त श्याम (

और प्रभावान् होने से उनमें हरेपन की झलक आ जाती है। श्रीराधिकाजी का वर्ण पीली चमेली के समान पीली चंपा के समान है श्यामसुन्दर काले हैं उन पीली प्रियतमा की छाँई काले मे पड़ने से हरापन आ जाता है। आह्लादिनी शक्ति के संसर्ग से उनका अन्तःकरण हरा हो जाता हैं। श्याम होने से दूर्वा से अतसी के पुष्प से, जल भरे मेघों से, श्याम तमाल से श्यामसुन्दर की उपमा दी जाती है। वे श्यामसुन्दर हृदय प्रदेशों में विराजमान हैं। श्याम यह बहुत ही गाढ़ा गंभीर वर्ण है। इसी प्रकार हृदय मे रहने वाले श्यामसुन्दर अत्यन्त ही दुर्गम हैं। अब एक ब्रह्मलोक मे रहने वाले ब्रह्म हैं। वे भी शबल वर्ण के हैं। शबल भी काला ही वर्ण है, किन्तु सघन उज्वल काला है। उसमें दिव्य भोग हैं। तो मैं हृदयस्थ श्याम ब्रह्म की उपासना करते-करते शरीर त्याग के अनन्तर ब्रह्म लोक को–शबल ब्रह्म को–प्राप्त होऊँ यह साधक की विनय है। फिर ब्रह्मलोक से–शबल ब्रह्म से– अशरीरी जो श्याम हैं, जहाँ किसी प्रकार के भोग नहीं, उस सच्चिदानन्दघन परब्रह्म को प्राप्त होऊँ।

साधन काल में शरीर रहते कर्मानुसार अनेक पाप रहते हैं, साधना द्वारा उन सभी पापों से छूट कर मैं निष्कलमष निर्मल अन्तःकरण वाला हो जाऊँ, किस प्रकार ? जिस प्रकार घोड़ा, भूमि पर लोटकर मैला हो जाता है, फिर फुरहुरी लेकर–रोमकंपन करके–शरीर में लगे धूलि कणों को झाड़कर तथा अपने श्रम को मिटाकर निर्मल बन जाता है। उसी प्रकार हृदयस्थ श्यामसुन्दर को जानकर पाप पुण्यों को धर्माधर्म रूप कर्मों को झाड़कर मैं भी निर्मल बन जाऊँ।

दूसरा दृष्टान्त देते हैं, जैसे पर्व पर राहु चन्द्रमा को ग्रस लेता है, किन्तु राहु के पेट तो है नहीं केवल मुख-ही-मुख है नीचे से

चन्द्रमा निकल आते हैं। जिस समय चन्द्रमा को राहु ग्रस लेता है उस समय वे तमोमय दिखायी देते हैं, जब वे उसके मुख से निकल आते हैं, तो उससे पृथक् हो जाते हैं पुनः प्रकाशवान् होकर दमकने लगते हैं। इसी प्रकार पाप-पुण्य-धर्म-अधर्म का सम्पूर्ण अनर्थों का आश्रय यह शरीर ही है, जब इस शरीर द्वारा ध्यान धारणा करके मैं कृतार्थ होकर—पुनः इस शरीर का परित्याग करके शबल ब्रह्म को—ब्रह्मलोक को—प्राप्त करके प्रकाशित होऊँ। मैं विशुद्ध बनकर ब्रह्म लोक को प्राप्त होता हूँ, हूँ, ब्रह्मलोक को प्राप्त होता हूँ।" यही इस 'श्यामाच्छबलम्' मन्त्र का अर्थ है। जो इस अर्थ का मनन ध्यान करता हुआ इस मन्त्र को जपता है उसे निश्चय ही ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है।"

यह तो हुई श्याम और शबल उपासना अब दूसरी कारण रूप से आकाश ब्रह्म की उपासना बताते हैं। श्रुतियों में स्थान-स्थान पर आकाश को ब्रह्म कहा है। (यस्याकाशःशरीरम्, खं ब्रह्म इत्यादि) वह आकाश नाम से प्रसिद्ध आत्मा नाम रूप का व्याकर्ता है। अर्थात् संसार में जितने भी नाम और रूप हैं, उन सब का निर्वाह इस आकाश ब्रह्म से ही होता है। परब्रह्म ने स्वयं ही कहा है—"मैं इस जीवात्मा के द्वारा अनुप्रवेश करके नाम रूपों को प्रकाशित करता हूँ।" ऐसा यह नाम रूपों का प्रकाश करने वाला आकाश ब्रह्म है। जितने नाम तथा रूप हैं सभी इस आकाश ब्रह्म के अन्तर्गत हैं। वही अमृत है, वही आत्मा है। जैसे आकाश अपने में सब को धारण करते हुए भी सबसे असंस्पृष्ट है, उसी प्रकार नाम रूपों को धारण करते हुए भी सबसे असंस्पृष्ट है, अछूता है, जैसे कमल पत्र जल में रहता हुआ भी जल से पृथक् है।

मैं उन्हीं प्रजापति के सभागृह को प्राप्त होता हूँ। जिसे यश

कहते हैं वह यश स्वरूप आत्मा मैं ही हूँ। मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जो द्विजाति हैं, उनका उपासना रूप जो यश है वह यश मैं ही हूँ, संसार में जितने भी यश हैं, उन सब यशों का भी यश मैं हूँ।

मेरी एक ही प्रार्थना है, जो प्रजा का द्वार है पके बेर के सदृश जिसका रोहित वर्ण है, जो पिच्छल है, जो बिना दाँतों के श्वेत वर्ण के वीर्य को भक्षण कर जाती है, उन लिन्दु को मैं प्राप्त न होऊँ, उससे मैं बचा रहूँ। क्योंकि उससे बचने पर ही अप्रजावान अमृत, अपुनरावर्ती अशोक लोक प्राप्त हो जा सकते हैं। लिन्दु के संसर्ग से तो बार-बार जन्मना मरना पड़ता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार इन आठ अध्यायों में यह छान्दोग्य उपनिषद् समाप्त हुई। ऐसा प्राचीन सदाचार है, कि जो ज्ञान जिसके द्वारा प्राप्त हो उसकी परम्परा बना देना चाहिये। उसके नियम तथा फल का भी वर्णन कर देना चाहिये। इसलिये इस आत्मज्ञान की परम्परा बताते हैं।"

इस आत्मज्ञान उपासना रूप उपनिषद् का उपदेश लोक पितामह ब्रह्माजी ने अपने पुत्र प्रजापति कश्यपजी के प्रति किया, प्रजापति कश्यपजी ने इसे मनु महाराज को दिया। और मनु ने ही इसका प्रचार प्रजाजनों में किया। उन्होंने योग्य अधिकारियों को इसे सुनाया। इसलिये साधक को चाहिये कि पहिले तो ब्रह्मचर्यादि व्रत नियमों को धारण करके नियमानुसार गुरु सुश्रूपा आदि कर्मों को पालन करते हुए गुरु कुल में वास करे। यदि ऊर्ध्वरेता नैष्ठिक ब्रह्मचारी बनने की इच्छा हो तो जीवन भर गुरुकुल में वास करे अथवा वनवास करके तपस्या करे अथवा सर्वस्व त्यागकर प्रभुपरायण हो जाय।

यदि उपकुर्वाण ब्रह्मचारी हो, गृहस्थाश्रम में जाने की इच्छा हो तो स्नातक बन के—समावर्तन संस्कार कराकर—कुटुम्बी बन जाय। गृही धर्म का धर्मपूर्वक पालन करे फिर परम पवित्र स्थान में स्वाध्याय प्रवचन में स्थित होकर कालयापन करे। स्वाध्याय द्वारा अन्तःकरण को पावन बनावे। प्रवचन द्वारा पुत्र तथा शिष्यों को धार्मिक शिक्षा दे। इन्द्रियों को सदा वश में रखे। अन्तःकरण को विशुद्ध बना ले। शास्त्रीय आज्ञाओं का पालन करे, कार्य और अकार्य में शास्त्रों को ही प्रमाण माने। कभी प्राणियों की हिंसा न करे। जो इस प्रकार नियम संयम पूर्वक शास्त्रीय नियमों का पालन करता हुआ जीवन यापन करता है, वह शरीर त्याग के अनन्तर ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है। वह उस ब्रह्म लोक को प्राप्त करता है, जहाँ से प्राणी पुनः लौटकर इस लोक में नहीं आता।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार इस आत्मज्ञान की परम्परा बताकर, इसके पालन के नियमों का उपदेश करके तथा इसकी साधना से साधक को क्या फल मिलेगा इसका वर्णन करके यह छान्दोग्य उपनिषद् समाप्त हुई। मुझसे जो टूटा फूटा अर्थ बना वह मैंने आप सबको सुना दिया। आप सब विद्वान् हैं वेदों में पारगत हैं, मुझसे यदि कोई त्रुटि रह गयी हो, तो उसे आप अपने सौजन्य से सम्हाल लें अब आगे मैं बृहदारण्यक उपनिषद् के अर्थ को आप सबसे कहूँगा। जैसे शांतिचित्त से आपने इसे श्रवण किया वैसे ही आशा है आप बृहदारण्यक उपनिषद् के अर्थ को भी सुनेंगे।"

छप्पय

(१)

ब्रह्म बिदित आकाश नाम रूपनि अन्तर्गत ।
अमृत आतमा वही प्रजापति घर हौं प्रापत ॥
ब्रह्म क्षत्र अरु वैश्य रूप यश आत्मा पाऊँ ।
यश को यश हौं सतत उदरमहँ पुनि नहिँ आऊँ ॥
बिना दाँत भक्षण करै, पिच्छल लोहित वर्ण सुनि ।
मातु भगवती चिन्ह तव, प्राप्त कबहुँ होऊँ न पुनि ॥

(२)

उपनिषद हु छान्दोग्य दयी अजने परजापति ।
तिनि पुनि मनु कूँ दई कही मनु निज परजा-प्रति ॥
जो वेदनि पढ़ि आइ गृही धर्म नियमनि साधत ।
प्रवचन अरु स्वाध्याय करें नहिँ प्राणिनी पीड़ित ॥
धारे उपनिषदहिँ विमल, जीवन भरि व्रत तैं रहै ।
ब्रह्म लोककूँ प्राप्त करि, लौटे नहिँ अमृत लहै ॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के अष्टम अध्याय में तेरह, चौदह और पन्द्रह खण्ड समाप्त छान्दोग्य उपनिषद् समाप्त ।

अथ बृहदारण्यकोपनिषद्

(१६६)

बृहत्त्वाद् ग्रन्थतोऽर्थाच्च बृहदारण्यकं मतम् ॥*

(श्रीसुरेश्वराचार्यजी)

छप्पय

उपनिषदनिमहँ बृहत् अरथ हू में जो भारी।
यजुरवेद की सुखद काण्व शाखा सुखकारी॥
ब्राह्मण वाजसनेयि सुअन्तरगत इहि गरिमा।
बटु अरण्य में पढ़त यही आरण्यक महिमा॥
ज्ञान उपासन विविध विधि, बहु उपदेशनि तें भरी।
बृहदारण्यक उपनिषद्, प्रारम्भ हु प्रभु-वर करी॥

दश उपनिषदों में ही नहीं अब तक जितनी उपनिषदें प्राप्त हैं, उन सबमें बृहदारण्यक उपनिषद् सबसे बड़ी है। यह उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद की काण्व संहिता के कण्व शतपथ ब्राह्मण के सत्रहवें काण्ड के अन्तर्गत है। इस उपनिषद् में ६ अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय के विभाग जैसे छांदोग्य उपनिषद् में काण्ड नाम से किये हैं। यहाँ ब्राह्मण नाम से किये हैं। प्रथम अध्याय

---

* इस उपनिषद् का नाम बृहदारण्यक क्यों पड़ा ? इसलिये कि ग्रंथ का कलेवर भी सब उपनिषदों की अपेक्षा बृहद है और अर्थ की दृष्टि से भी यह बृहत् है। अरण्य में अध्ययन किये जाने से इसे आरण्यक कहते हैं।

में ६ ब्राह्मण हैं। द्वितीय में ६, तृतीय में ९, चतुर्थ में ६, पंचम में १५ और छठवें अध्याय में ५ ब्राह्मण हैं। जिनमें भिन्न भिन्न ऋषियों द्वारा अनेकों उपासना तथा ज्ञानमयी गाथायें हैं।

वेद तथा पुराण अनादि हैं। वेदों का भाव पुराणों के पढ़े बिना जाना नहीं जा सकता। इतिहास और पुराण ज्ञान से ही वेदों का अर्थ परिबृंहण किया जाता है। जो अल्प श्रुत हैं, जिन्होंने महाभारत, रामायणादि इतिहास तथा अठारह पुराण महा-पुराण, उपपुराण औपपुराणों को नहीं पढ़ा है और वेदों का अर्थ करने बैठता है, तो उससे वेद भयभीत हो जाते हैं, कि यह अर्थ का अनर्थ करके मेरे ऊपर प्रहार करेगा। इसलिये पुराण ही वेदों के भाव को खोलते हैं। ये वेदों का भाष्य हैं। वेदों में ऋषियों के नाम दिये हैं, उनकी उत्पत्ति कैसे हुई इसका वर्णन तो इतिहास पुराणों में ही विस्तार से किया गया है।

अब शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद, यजुर्वेद की दो शाखायें कैसे हुईं। इसका विस्तार से वर्णन पुराणों में ही मिलता है। शुक्ल यजुर्वेद की शाखा का नाम वाजसनेयि कैसे हुआ इसका वर्णन हम पीछे कर चुके हैं। यजुर्वेद के आचार्य वैशम्पायन मुनि थे। वे अपनी ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त छोटे बटुओं से करा रहे थे। उनके ज्येष्ठ वरिष्ठ शिष्य याज्ञवल्क्य मुनि ने अहङ्कार से कहा—"ये कल के बच्चे क्या प्रायश्चित्त करेंगे, मैं करूँगा।" उनके इन अभिमान पूर्ण वचनों में गुरु को क्रोध आ गया। उन्होंने कहा तुमने मुझसे जो वेद पढ़ा है उसे त्याग दे। तब उन्होंने सजीव चैतन्य वेद की ऋचाओं को उगल दिया, वे पारे के कण की भाँति भूमि पर लुढ़कने लगीं। कुछ शिष्यों को लालच आ गया। वे बिना तप ब्रह्मचर्य और साधना के ही उन ऋचाओं को हृदयङ्गम करना चाहते थे। मनुष्य शरीर से उगले हुए—कै किये

हुए वांत—को कैसे खा सकते थे। अतः तित्तर बनकर उन्होंने वे चुग लिये। अतः वह वेद की तैत्तरेय शाखा हो गई।

अब याज्ञवल्क्य मुनि ने प्रतिज्ञा की ये मनुष्य क्रोधी होते हैं। अतः अब मैं मनुष्य को गुरु न करूँगा। उन्होंने सूर्यदेव की आराधना की सूर्यदेव ने वाज—घोड़ा—का रूप रखकर उन्हें वेद का उपदेश किया यही वाजसनेय शाखा के नाम से प्रसिद्ध हुई। जिन्हें कण्व माध्यन्दिन आदि ऋषियों ने ग्रहण किया। उन कण्व मुनि की काण्वी शाखा के वाजसनेयि ब्राह्मण के अन्तर्गत यह बृहदारण्यक उपनिषद् है।

कण्व मुनि के सम्बन्ध में स्कन्धपुराण में एक कथा है। जब इन्द्रियों और प्राणों में श्रेष्ठत्व के सम्बन्ध में वाद विवाद हुआ और सभी ने प्राण का श्रेष्ठत्व स्वीकार कर लिया तो प्राण देवता की इच्छा हुई एक अश्वमेघ यज्ञ करें।

सबसे पहिले यज्ञीय भूमि की खोज की गयी। खोजते-खोजते भगवती भागीरथी के तट पर एक बहुत सुन्दर सुविस्तृत भूमि दृष्टिगोचर हुई। याज्ञिकों की सम्मति से गंगा किनारे की वह भूमि अश्वमेघ यज्ञ के लिये चुन ली गयी। अब भूमि शुद्धि के निमित्त जैसा कि नियम है, यजमान प्राणदेव सुवर्ण के हल से उस भूमि को जोतने लगे। जोतते-जोतते उस चौरस भूमि में एक छोटा सा वल्मीक—दीमक—का टीला-सा दिखायी दिया। प्राणदेव उसे भी चौरस करने के लिये उसे जोतने लगे, उस पर हल चलाने लगे। उसके भीतर कण्व मुनि तपस्या कर रहे थे। सहस्रों वर्षों तक एक ही स्थान पर बैठे रहने से उनके शरीर में दीमक लग गयी थी, उन्हीं दीमकों ने मुनि के शरीर पर एक टीला-सा बना लिया था। जब हल की फार मुनि के शरीर में गड़ने लगी, तब उनकी समाधि भङ्ग हुई। मुनि को हल जोतने वाले

आ गया, उन्होंने शाप दिया—"जिन्होंने प्रसिद्धि प्रतिष्ठा के निमित्त मेरे ऊपर हल चला दिया है, उन प्राण की आज से जगत में प्रसिद्धि न होगी। उनकी महिमा की ख्याति भूमि पर न होगी। हाँ प्राण के अवतार (४६ वायु) तीनों जगत् में प्रसिद्धि प्राप्त करेंगे।"

यह सुनकर प्राण को भी क्रोध आ गया और कहा—"हे कण्व! मैं निरपराध था, मैं तो अश्वमेध यज्ञ के निमित्त भू शुद्धि के लिये सुवर्ण के हल से भूमि को जोत रहा था। महान् पुण्यप्रद कार्य कर रहा था। किन्तु बिना ही सोचे समझे त्यागी विविद्धु मुझको तुमने शाप दे दिया, तो मैं भी तुम्हें शाप देता हूँ, कि तुम गुरु द्रोही हो जाओगे।"

इस कथा से ऐसा प्रतीत होता है, कि कण्व कोई याज्ञवल्क्य जी से पृथक् मुनि नहीं थे। याज्ञवल्क्य का ही दूसरा नाम कण्व रहा होगा, क्योंकि उसी प्रसङ्ग में आगे कहा गया है, कि प्राण वायु के शाप से कण्व अपने गुरु का परित्याग करके सूर्यनारायण के शिष्य हो गये।

कुछ भी क्यों न हो उन कण्व ऋषि की काण्वी शाखा के अन्तर्गत यह बृहदारण्यक उपनिषद् है। इसमें सबसे पहिला प्रकरण है अश्वमेधोपासना। अब थोड़ा विचार इस बात पर भी कर लेना चाहिये, कि इन अश्वमेधादि यज्ञों का प्राचीन स्वरूप क्या था?

वैसे अश्वमेध का स्वरूप पुराणों के पढ़ने से यही जान पड़ता है, कि शुभ लक्षणों वाले अश्व को चुनकर उसके मस्तक पर एक ताम्र पत्र बाँधा जाता था, कि "अमुक राजा के अश्वमेध का यह अश्व है। जिसे विरोध हो वह इस घोड़े को पकड़े।" अश्वस्वच्छन्दगति से चलता था, एक बहुत बड़ी चतुरङ्गिनी सेना

उसके पीछे-पीछे चलती थी। अश्व जिस राजा के राज्य में जाता उस देश के राजा को यदि कोई विरोध न होता, उस राजा के अश्वमेघ का समर्थक होता, तो सेनापति का सम्मान करता, उसे यज्ञ के निमित्त द्रव्य दान देता, अश्व आगे बढ़ जाता। जिसे विरोध करना होता, वह पकड़ कर घोड़े को बाँध लेता, तब घोड़े के पीछे चलने वाली सेना के सेनाति उससे युद्ध करके उसे जीत कर आगे बढ़ते। इस प्रकार एक संवत्सर में या इससे अधिक समय में घोड़ा लौटकर आ जाता, तो शास्त्रीय विधि से उसके अंगों का अग्नि में हवन किया जाता। यही अश्वमेध का स्वरूप प्रतीत होता है। वैसे अश्वमेध यज्ञ स्वर्ग की कामना से, तथा पापों के प्रायश्चित्त स्वरूप किये जाते थे। जब धर्मराज महाभारत के अनन्तर कुल हिंसा के कारण दुखी हुए तो भगवान् ने उसके प्रायश्चित्त स्वरूप तीन अश्वमेध ही कराये थे। जिसमें अश्व की मेध हिंसा हो वह अश्वमेध है। (अश्वः मेध्यते–हिंस्यते यत्र सः अश्वमेधः) मेधृ धातु संगम, मेधा और हिंसन तीनों अर्थों में प्रयुक्त होती है। पुराणों के पठन से यही प्रतीत होता है, कि उसमें अश्व के अंगों का हवन होता था। कलि वर्ज्य प्रकरण में भी कलियुग में अश्वमेध नरमेध गोमेध का निषेध बताया गया है।* इससे भी सिद्ध होता है अन्य युगों में ये बलिदानात्मक यज्ञ होते थे।

---

* दीर्घकाल ब्रह्मचर्यं नरमेधाश्वमेधकौ।
महाप्रस्थानगमनं गोमेधं च तथा मखम्।
इमान् धर्मान् कलियुगे वर्ज्यानाहुर्मनीषिणः।
(बृहन्नारदीय पुराणे)

नराश्वमेधौ मद्यञ्च कलौवर्ज्या द्विजातिभिः
(ब्रह्मपुराणे)

ब्रीहि–चावल। क्योंकि छिलका पृथक् हो जाने पर चावल फिर पैदा नहीं हो सकता। इससे छिले हुए बीज का नाम अज है। लोग तो अपनी प्रकृति के अनुसार अपने स्वार्थ के अनुसार अर्थ लगा लेते हैं जो राजस तामस प्रकृति के हैं वे स्वार्थवश–जिह्वा लोलुपता के कारण–अज का अर्थ बकरा लगाते हैं। तुम तो भैया सत्व प्रधान हो। भगवान् विष्णु भी सत्त्व प्रिय हैं, तुम ही सोचो साक्षात् सत्त्व मूर्ति रमापति ऐसे हिंसा यज्ञों से सन्तुष्ट कैसे हो सकते हैं? उनको प्रसन्न करने के निमित्त तो अहिंसक यज्ञ करने चाहिये।"

रजोगुणी तमोगुणी धर्म के व्याज से ऐसे हिंसामय यज्ञ करते हैं। आप लोग तो शुद्ध सत्व गुण प्रधान हो। प्रतीत होता है इन रजोगुणी तमोगुणी लोगों के संसर्ग के कारण तुम ऐसा हिंसामय यज्ञ करने को उद्यत हो गये हो। जो ये राजागण या असुरगण तामस देवता भैरवादिकों को प्रसन्न करने को हिंसामय यज्ञ करते हैं। आपके लिये ऐसे हिंसा प्रधान यज्ञ नहीं करने चाहिये। हमने तो आज तक सात्विक पुरुषों को देवताओं को सुरा और मांस प्रधान यज्ञ करते न कभी देखा न सुना ही है। अरे, भैयाओ! अधर्म क्यों करते हो। सुन्दर दूध मँगाओ उसमें उत्तम चावल डालकर चीनी घृत मिलाकर उससे हवन करो। देखो, अद्रोह, अलोभ, दम, भूतदया तपस्या, ब्रह्मचर्य, सत्य, अदम्भ, क्षमा और धृति इन सबका नाम सनातन धर्म है। हिंसा करना कदापि वेद सम्मत नहीं। जो इस सनातन धर्म का उल्लङ्घन करके जीव हिंसा आदि अधर्म करता है, वह धर्म घातक है, उसका पतन होता है।"

इस प्रकार ऋषियों ने नाना प्रमाण देकर भाँति-भाँति की युक्तियों द्वारा देवताओं को पशुओं के बलिदान से रोकना चाहा, किन्तु वे माने नहीं। जिह्वालोलुपता के वशीभूत होकर वे कहने

लगे—"हम लोग तो वेद की ही आज्ञा का पालन कर रहे हैं-वेद कहता है अज के द्वारा हवन करना चाहिये। अज–छाग–बकरा, को ही कहते हैं। आप कहते हो, अज का अर्थ बीज है, यह बात हमारी बुद्धि में बैठती नहीं। हम तो अज का लोक में प्रचलित अर्थ बकरा ही लेते हैं। अतः हम उसी का बलिदान करेंगे।"

यह सुनकर ऋषियों को बड़ा दुःख हुआ। वे उदास हो गये। फिर भी वे भाँति-भाँति की युक्तियों से देवताओं को समझाने बुझाने लगे। किन्तु देवता अपनी ही बात पर अड़े रहे। वे अज का अर्थ बकरा ही बतलाते रहे और यज्ञ में बलिदान करने को वेद की आज्ञा बताकर उसके लिये आग्रह करते रहे।

संयोग की बात उसी समय वहाँ अकस्मात् परम धर्मात्मा राजा उपरिचर वसु आ पहुँचे। ये बड़े धर्मात्मा विष्णु भक्त वैष्णव तथा हिंसा से रहित थे। पांचरात्र विधि से इन्होंने बड़े-बड़े यज्ञ याग किये थे, किन्तु किसी भी यज्ञ में उन्होंने जीव हिंसा नहीं की थी। वे अपनी विष्णु भक्ति, अहिंसा प्रियता परोपकार निरता तथा वैष्णवता के कारण विश्व में विख्यात थे। इनकी भक्ति से प्रसन्न होकर साक्षात् भगवान् नारायण ने इन्हें पृथ्वी का साम्राज्य प्रदान किया। ये भी अनासक्त भाव से निरन्तर भगवान् की भक्ति करते हुए आदर पूर्वक प्रजा का पालन करते थे और निरन्तर भगवान् के भजन में ही लगे रहते थे। ये जब चाहते तब स्वर्ग में इसी शरीर से चले जाते, इन्द्र इनका बड़ा आदर करते थे, उन्हें अपने सिंहासन का आधा भाग बैठने को देते। अपनी भक्ति के कारण ये आकाश में ही विचरते रहते। इसलिये इनका उपरिचर नाम पड़ गया।

देवताओं और महर्षियों के वाद विवाद के समय भगवत्भक्त वैष्णव राजा को आया हुआ देखकर देवतागण महर्षिगण

ही प्रसन्न हुए। महर्षियों ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए देवताओं से कहा—"देखो, तुम लोग हमारी बात नहीं मानते, ये धर्मात्मा राजा उपरिचर वसु आ गये हैं, ये तुम्हारी शङ्का का समाधान कर देंगे।"

महाराज तो इन्द्र के परम मित्र ही थे, अतः देवताओं ने कहा—"ये राजा जो निर्णय कर देंगे। वह हमें स्वीकार होगा।"

इस पर महाराज उपरिचरवसु ने कहा—"आप दोनों अपनी-अपनी बातें मुझे बतावें, तब मैं निर्णय दूँगा।"

देवताओं ने कहा—"हमारा पक्ष यह है, कि पशु से हवन करना चाहिये।"

महर्षियों ने कहा—"हमारा पक्ष यह है, कि पशुओं से हवन न करके औषधियों से हवन करना चाहिये। अब इस विषय में आप जो निर्णय देंगे, वही प्रमाण माना जायगा।"

अब राजा बड़े चक्कर में पड़े, वैसे वे तो विष्णु भक्त होने के कारण सदा औषधियों ही से हवन करते थे, किन्तु इन्द्र से उनकी मित्रता थी, अतः मित्र के सकोच के कारण बोले—"मेरी सम्मति में तो अज का अर्थ छाग-बकरा-ही है, उसी से हवन करना चाहिये।"

राजा ने निष्पक्ष भाव से मध्यस्थ के धर्म का पालन नहीं किया। मित्रता के कारण देवताओं के असत्य पक्ष का समर्थन किया, वेदों को हिंसापरक सिद्ध किया। इस वाणी दोष के कारण राजा की अन्तरिक्ष में उड़ने की शक्ति नष्ट हो गयी। वे अन्तरिक्ष से धड़ाम पृथ्वी पर गिर पड़े और पृथ्वी में भी एक गुफा में गिर गये और वहीं रहने लगे। इतने पर भी उन्होंने कल्याण करने वाली भगवान् की भक्ति की थी, इससे उनकी स्मृति नष्ट नहीं हुई। वे भूविवर में रहते हुए भी भगवान् का निरन्तर स्मरण

करते रहे। पीछे भगवान् ने कृपा करके गरुड़ जी द्वारा उनका उद्धार कराकर उन्हें पुनः आकाश में चलने की शक्ति प्रदान कर दी।

देवताओं ने महाराज उपरिचर की दुर्दशा देखी थी। उनको निश्चय हो गया, कि वेदों में हिंसा का विधान नहीं है, यह तो जिह्वालोलुप लोगों ने स्वार्थवश ऐसी अशुद्ध परम्परा चला दी है। अतः बलिदान के लिये जितने पावन पशु एकत्रित किये थे। उन सबको उन्मुक्त करके स्वर्ग को चले गये। वे समझ गये यज्ञों में हिंसा पाप है। महर्षिगण भी अपने-अपने स्थानों को चले गये।

महाराज उपरिचर वसु की कथा महाभारत में तथा अन्यान्य पुराणों में कुछ हेर फेर के साथ आई है। प्रायः सभी स्थानों में वेद में हिंसा बताने पर उनका पतन सिद्ध किया गया है। इस प्रसंग से स्पष्ट सिद्ध होता है, कि यज्ञों में पशु हिंसा अवैदिक है अशास्त्रीय है। किन्तु इस बात से असमर्ति प्रकट नहीं की जा सकती कि त्रेता द्वापरादि युगों में बड़े-बड़े राजा महाराजाओं ने यज्ञों में पशुओं के बलिदान किये है।

स्कन्धपुराण में ऐसी ही शंका सावर्णि ने की है। उसके उत्तर में कहा गया, कि जब दुर्वासा के शाप से त्रैलोक्य की श्री नष्ट हो गयी, तब बिना वर्षा के अन्न का एक दाना भी उत्पन्न नहीं हुआ। प्रजा के लोग नगरों को छोड़कर वनों में वास करने लगे। वहाँ वे कन्द मूल फलों पर निर्वाह करने लगे। कुछ लोग जंगली पशुओं का मांस खाकर बुभुक्षा को शान्त कर लेते। जब कन्द मूल फल भी नहीं रहे, तब धर्मात्मा लोग भूख के कारण मरने लगे। इस पर महर्षि को बड़ा दुःख हुआ। जैसे भी हो वैसे आत्मा की रक्षा करनी चाहिये। इसलिये ऋषियों ने उनसे

प्राण बचाने को आपद् धर्म मानकर यह उपधर्म बताया, कि वैसे मांस भक्षण तथा हिंसा करना महापाप है, फिर भी वैदिकी हिंसा, हिंसा नहीं मानी जाती। आप लोग अपने उदर के निमित्त नहीं देवता पितरों के लिये मांस का प्रयोग करें। यज्ञ से उच्छिष्ट मांस में कोई दोष नहीं यह बात प्राणों की रक्षा के लिये विवश होकर कुछ लोगों ने मान ली। वे फिर से यज्ञों में हिंसा करके यज्ञोच्छिष्ट का भोग लगाने लगे। यह धर्म नहीं था धर्म का आभास था। करते-करते लोगों की इन कार्यों में प्रवृत्ति हो गयी। दरिद्रों की सन्तानें बहुत बढ़ गयीं। उनमें से जो विद्वान् हुए उन्होंने यज्ञों में हिंसा के समर्थन में ग्रन्थ लिखे, इससे पुनः ये हिंसा प्रधान यज्ञ लोक में प्रचलित हो गये और आज तक भी काम, क्रोध, जिह्वा के रस के वशीभूत होकर बहुत से मुनीश्वर राजा, देवता तथा अन्यान्य मनुष्य उस आपद्धर्म को प्रधान धर्म मानकर यज्ञों में हिंसा करने लगे। वही परम्परा लोक में अब तक प्रचलित हो गयी। किन्तु जो एकान्त भगवद्भक्त वैष्णव हैं उन्होंने इसे आपद्धर्म को भी न मानकर कभी भी वैदिकी हिंसा का समर्थन नहीं किया। इस प्रकार आपद्धर्म मानकर फिर से आरम्भ किया। यह धर्म त्रेतादि युगों में मुख्य धर्म बन गया।*

---

* तत्राऽपि केचिन्मुनयो नृपा देवाश्च मानुषाः।
काम क्रोध रसास्वादलोभोपहत चित्तयः॥
तमापद् धर्मं मद्यापि प्राधान्येनैव मन्वते॥
एकान्तिनो भागवतजिता कामादयस्तु ये।
आपद्यपि न ते गृह्णन्ति तदाकिमुताऽन्यदा॥
(स्क० पु० २ खं० अ० ६ अ० ३३, ३४ श्लोक)

मनु महाराज ने इस विषय में स्पष्ट लिखा है। मांस, मद्य मैथुन में दोष नहीं है ऐसी संसारी लोगों की स्वाभाविकी प्रवृत्ति है, किन्तु मेरा मत है, कि जो इन से निवृत्त रहेगा, उसे महा फल की प्राप्ति होगी।

बात यह है, कि संसार में प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग दो ही निष्ठायें हैं और वेदों में प्रवृत्ति परक और निवृत्ति परक दो ही प्रकार के कर्मों का वर्णन है। जिसकी जैसी योग्यता हो जिसकी जिस में प्रवृत्ति हो उसे उसी मार्ग को ग्रहण करना चाहिये। ये दो मार्ग सनातन हैं। प्रवृत्ति मार्ग तो उसे कहते हैं, जिसमें वेद तथा तन्त्रों की विधि से गुरुकुल से आकर विधिपूर्वक विवाह कर ले। न्याय पूर्वक धनोपार्जन करे और उस द्रव्य को सकाम यज्ञों में व्यय करे। ग्राम में अथवा नगर में निवास करके वापी, कूप, तड़ाग, आराम बनवाकर परोपकार के कर्म करे सकाम वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान करे। वास्तव में व्यापार, खेती आदि कर्म नहीं हैं, ये तो आजीवा उपार्जन के साधन है। कर्म तो यज्ञों का अनुष्ठान ही है। यज्ञों के निमित्त किये कर्मों से अतिरिक्त जितने काम हैं, वे सब के सब कर्म बन्धन के कारण हैं। प्रवृत्ति मार्ग में यज्ञ सब कामना सहित ही किये जाते हैं। अमुक कर्म पितरों की तृप्ति के लिये करे। अमुक यज्ञ पुत्र प्राप्ति, धन सम्पत्ति प्राप्ति तथा स्वर्गादि पुण्य लोकों की प्राप्ति के निमित्त करे यही प्रवृत्ति मार्ग है, किन्तु इन कर्मों से शाश्वती शान्ति प्राप्त नहीं होती। पुण्यों का भोग स्वर्ग में जाकर करो। पुण्य क्षय होने पर फिर जन्म धारण करो। अतः प्रवृत्ति मार्गीय कर्म अशान्ति कर बताये हैं।

अब निवृत्ति मार्ग क्या है? स्त्री तथा द्रव्य का सर्वथा काम, क्रोध तथा लोभादि का परित्याग ग्राम नगर छो

में जाकर निवास करना तपस्या करते रहना, क्षमा, शम, दम आदि सद्गुणों को धारण करना। हिंसा प्रधान सकाम यज्ञों को छोड़कर ब्रह्म यज्ञ, योग यज्ञ, ज्ञान यज्ञ, जप यज्ञ, जो अहिंसा प्रधान यज्ञ हैं, उन्हें करते रहना। यही निवृत्ति मार्ग है।

जो प्रजावान्, स्त्री परिग्रही प्रवृत्ति मार्ग परायण पुरुष हैं, वे भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्गलोक से आगे नहीं बढ़ सकते इन तीनों लोकों में ही आते जाते हैं। स्वर्ग में पुण्यों के भोग के निमित्त जाते हैं। पुण्य क्षीण होने पर विवश होकर ढकेल दिये जाते हैं। प्रवृत्ति मार्ग के मनुष्यों की बात तो जाने दो। जो देवता अधिकारारूढ़ हैं, इन्द्र, मनु, प्रजापति, सप्तर्षि, आदि बड़े-बड़े पदों पर प्रतिष्ठित हैं उन लोगों के इष्ट भोग, ऐश्वर्य ब्रह्माजी के एक दिन में नष्ट हो जाते हैं। क्योंकि ये अधिकार भी प्रवृत्ति मार्ग परायण पुरुषों को ही प्राप्त होते हैं।

किन्तु जो निवृत्ति मार्ग निरत पुरुष हैं, वे शरीर त्याग के अनन्तर त्रैलोक्य को पार करके जन, तप और सत्य ये तीन ब्रह्मलोक हैं। उनको प्राप्त हो जाते हैं। जब ब्रह्माजी के एक दिन के अनन्तर तीनों लोकों का प्रलय हो जाता है, तब भी वे ज्यों के त्यों बने रहते हैं। इनके लोकों में प्रलय की आंच तक नहीं पहुँचती। द्विपरार्ध में ब्रह्माजी की आयु पूर्ण होने पर ये ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। अतः दो ही मार्ग हैं पहिला प्रवृत्ति मार्ग अथवा कर्ममार्ग। दूसरा निवृत्ति मार्ग, त्याग संन्यासमार्ग अथवा ज्ञान मार्ग, सांख्य मार्ग। कैसा भी सही ये दोनों ही मार्ग गुणात्मक हैं। यदि ये ही निवृत्ति मार्ग के कर्म या प्रवृत्ति मार्ग के कर्म निष्काम भाव से-केवल प्रभु प्रीत्यर्थ विष्णु के सम्बन्ध से किये जायँ, तो विशुद्ध निर्गुण बन जाते हैं। क्योंकि भगवान् विष्णु निर्गुण हैं, उनके निमित्त-उनकी प्रीति के लिये-जो भी कर्म

किये जायँगे वे सब निर्गुण हो जायँगे। उनका फल अक्षय हो जायगा। जैसे तुम पुत्रेष्टि यज्ञ करो तो यदि वह सांगोपांग सविधि समाप्त हो गया, तो उससे केवल पुत्र की ही प्राप्ति होगी। बीच में कुछ विघ्न बाधा पड़ गयी तो विपरीत भी फल हो सकता है। उसी यज्ञ को निष्काम भाव से प्रभु प्रीत्यर्थ करो तो उसका अक्षय फल होगा, उसमें विघ्नों की सम्भवना ही नहीं।

यह तीसरा मार्ग है, इसे वैदिक भाषा में उपासना और पौराणिकी भाषा में भक्ति कहते हैं। इसमें समस्त कार्य विष्णु के सम्बन्ध से विष्णु प्रीत्यर्थ किये जाते हैं और अन्त में विष्णुलोक की ही प्राप्ति होती है जो निर्गुणलोक है। इसलिये विवेकी पुरुषों को चाहिये कि चाहे प्रवृत्ति मार्गीय कर्म करे अथवा निवृत्ति मार्गीय, विष्णु भक्ति से समन्वित होकर-प्रभु प्रीत्यर्थ ही कर्म करना चाहिये। इस भक्ति मार्ग को ही निष्काम कर्म योग भी कहते हैं क्योंकि उन कर्मों में अपने लिये कोई कामना नहीं रहती। सब भगवान् के ही निमित्त उन्हीं के सम्बन्ध से किये जाते हैं।

इस प्रकार दो मार्ग हैं, एक प्रवृत्ति मार्ग दूसरा निवृत्ति मार्ग। ब्रह्मा, रुद्र, मनु, दक्ष, भृगु, धर्म, यम, मारीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वसिष्ठ, विवस्वान्, चन्द्रमा, कश्यप, कर्दम, समस्त प्रजापति, समस्त देवता, ऋषिगण, वर्णाश्रमी ये सब प्रवृत्ति धर्मपरायण होकर परमात्मा प्रभु की पूजा में परायण रहते हैं।

इनके अतिरिक्त सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार, सुजात, कपिल, आरुणि, ऋभु, यति, इत्यादि समस्त मुनि, शौनकादि समस्त नैष्ठिक ब्रह्मचारी ये निवृत्ति धर्म परायण होकर उन प्रभु की पूजा में परायण रहते हैं जो देवता पितरों को भगवान् वासुदेव के अंग मानकर बिना हिंसा किये अहिंसा विधि से नित्य उनका यजन करते हैं, वे लोग चाहे प्रवृत्तिधर्म निरत हों अथवा

निवृत्ति धर्म निरत हों, भगवान् उनको यथाधिकार कर्मों में नियुक्त कर देते हैं। भगवान् ने जो मर्यादा बाँध दी है उसका उल्लङ्घन कोई कर नहीं सकता।

भक्ति भाव से–उपासना पूर्वक–जो स्वल्प भी प्रभु प्रीत्यर्थ कर्म करते हैं, भगवान् उसके उस स्वल्प कर्म को भी अक्षय बना देते हैं। इसलिये कामना सहित कर्म न करके देवता पितरों को उनका अंग मानकर उपासना विधि से–भक्ति भावना से–कर्म करने चाहिये।

लोक में अश्वमेध यज्ञ कर्म सबसे श्रेष्ठ माना जाता है। धर्मराज को भी इसीलिये भगवान् ने अश्वमेध करने की ही सम्मति दी। भक्ति मार्ग की फल श्रुतियों में बार-बार अश्वमेध यज्ञ का उल्लेख है। प्रयागराज की यात्रा में जो जाता है, उसे पद-पद पर अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त होता। वैशाख के महीने में भगवान् माधव की तुष्टि के निमित्त जल की प्याऊ लगवा देता हैं, उसे प्रत्येक दिन अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त हो जाता है।[1]

जो अत्यन्त श्रद्धाभक्ति के साथ गंगाजी के स्नान के निमित्त घर से चलता है, उस पुरुष को पग-पग पर अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त हो जाता है।[2]

---

१. वैशाखे मासि यः कुर्यात् प्रपां माधवतुष्टये।
दिने दिने अश्वमेधस्य फलं प्राप्नोति मानवः॥
(पद्म पुराणे)

२. स्नानन्तु भक्त्या गङ्गायां कर्तुं कामस्य गच्छतः।
पदे पदे अश्वमेधस्य फलं मर्त्यस्य जायते॥
(ब्रह्माण्डपुराणे)

इन वचनों से यही सिद्ध होता है, कि अश्वमेध यज्ञ का महान् फल होता है। हम बता चुके हैं सकाम कर्म मार्ग और ज्ञानमार्ग के बीच का तीसरा उपासना या भक्ति मार्ग है। उसमें बिना हिंसा किये हुए केवल भगवान् की प्रीति के निमित्त वैसे या भावना से ही कर्म किये जाते हैं। अश्वमेध यज्ञ करने में तो बड़े झंझट हैं। विपुल द्रव्य की, नाना प्रकार की सामग्रियों की, सहस्रों लक्षों सहायक पुरुषों की आवश्यकता होती है। इस यज्ञ को चक्रवर्ती राजा ही कर सकते हैं।[३]

अब श्रुति उपासना की विधि से अश्वमेध विज्ञान का वर्णन करती है। इस अश्वमेध विज्ञान को जो भली प्रकार जान लेता है, उसे वही फल प्राप्त हो जाता है, जो अश्वमेध से यजन करता है।[४] यह यज्ञ वेद विज्ञान की फल श्रुति है। अर्थात् अरबों खरबों द्रव्य व्यय करके सहस्रों लक्षों सैनिकों की हिंसा करके, असंख्यों द्रव्य एकत्रित करके जो चिरकाल में अत्यन्त कष्ट करके अश्वमेध यज्ञ करने पर जो फल प्राप्त होता है वही फल केवल अश्वमेध विज्ञान को जान लेने पर प्राप्त होता है। अर्थात् जो अश्वमेध यज्ञ करने में असमर्थ हैं या जिन्हें उसे करने का अधिकार नहीं। वे यदि इस अश्वमेध विज्ञान को जान लेंगे, तो उन्हें इसके जान लेने से ही अश्वमेध यज्ञ का फल मिल जायगा। यह तो प्रवृत्ति मार्ग वालों के लिये फल हुआ। निवृत्ति मार्ग वाले बिना हिंसा किये हुए अरण्य में रहकर इसे जान लेने से श्रेष्ठ फल पा सकेंगे। किन्तु जो उपासक इसे विष्णु प्रीत्यर्थ सुनेंगे समझेंगे, भगवान् में भक्ति रखते हुए उन्हीं की

३ अश्वमेधेन यजते   (आश्वलायन श्रौ०)
४. यो अश्वमेधेन यजते य उ चैनमेव वेद   (श्रुति)

महिमा समझकर इसका श्रवण करेंगे, उन्हें विष्णुलोक की प्राप्ति होगी। अतः ऐसा मानकर जो अश्वमेध उपासना विज्ञान को समझने की चेष्टा करेंगे, ऐसे उपासकों पर परम कृपालु प्रभु प्रसन्न होंगे।

इतनी अवतरणिका के पश्चात् अब आगे बृहदारण्यक उपनिषद् की अश्वमेध उपासना का वर्णन आरम्भ करते हैं।

मैं न प्रवृत्ति मार्ग परायण ही हूँ, न निवृत्ति मार्ग परायण। न मैं वेद वेदान्त का ही ज्ञाता हूँ और न ऋषियों के ज्ञान के समझने की योग्यता ही। उन परात्पर प्रभु की अनुकम्पा की प्रतीक्षा करने वाला एक अत्यन्त ही क्षुद्र जीव हूँ। मेरा दुस्साहस ही है, कि बिना योग्यता के इन विषयों की व्याख्या करने में प्रवृत्त हुआ हूँ, किन्तु मैं तो उनका यन्त्र हूँ, वे जिस काम में मुझे नियुक्त कर देते हैं, उसमें विवश होकर प्रवृत्त हो जाता हूँ, या हो जाना पड़ता है। इन व्याख्याओं से औरों को लाभ होगा या नहीं, इसका मुझे पता नहीं। किन्तु निरन्तर इसी विषय का चिन्तन, मनन, स्वाध्याय, प्रवचन तथा लेखन से मेरा कालक्षेप सुचारु रूप से हो जाता है। यही मेरे लिये परम लाभ है। इसके अतिरिक्त यदि कुछ भी पाठकों को इससे सन्तोष होगा, लाभ पहुँचेगा, तो इससे मुझे परम प्रसन्नता होगी। बृहदारण्यक सबसे बड़ी उपनिषद् है, यह कब तक समाप्त होगी ? इसे वे ही जानें। पाठक से मेरी यही विनम्र प्रार्थना है, कि वे ऐसा आशीर्वाद करें, कि मेरा शेष जीवन इसी प्रकार निरन्तर स्वाध्याय प्रवचनों में ही व्यतीत हो। इतिशम्।

ज्येष्ठ-कृ०-७।२०२६ वि०
संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
प्रयाग

प्रभुदत्त

अश्वमेधोपासना (१)

(१६७)

अहर्वा अश्वं पुरस्तान्महिमान्वजायत तस्य पूर्वे समुद्रे योनी रात्रिरेनं पश्चान्महिमान्वजायत तस्यापरे समुद्रे योनिरेतौ वा अश्वं महिमानावभितः सम्बभूवतुः। हयो भूत्वा देवानवहद्वाजी गन्धर्वानर्वासुरानश्वो मनुष्यान् समुद्र एवास्य बन्धुः समुद्रो योनिः ॥*

(बृ० उ० १ अ० १ ब्रा० २म०)

छप्पय

अश्वमेध अब कहूँ उपासन अश्व मुख्य जहँ।
ऊषा तिहि सिर सूर्य–नेत्र वायु प्राणहिँ तहँ॥
वैश्वानर मुख खुल्यो अश्व–आत्मा संवत्सर।
स्वर्ग पीठि हय–उदर लोक भू पृथिवी पग थल॥
पार्श्व भाग तिहि सब दिशा, कहीं पसुरियाँ उप दिशा।
अंग सकल ऋतु– पर्व–पक्ष, कही प्रतिष्ठा दिन निशा॥

---

* अश्वमेध यज्ञ मे अश्व के आगे पीछे सोने चाँदी के महिमा नाम के दो पात्र रखे जाते हैं। वह आगे का महिमा दिन, पीछे का महिमा रात्रि हुई। पूर्व पश्चिम समुद्र उसकी दोनों योनि हैं, ये दोनों उस अश्व के आगे पीछे के महिमा संज्ञक ग्रह हुए। इसने देवताओं को हय होकर, गन्धर्वों को वाजि बनकर, असुरों को अर्वा होकर और मनुष्यों को अश्व होकर वहन किया इसका उद्गम स्थान तथा बन्धु समुद्र ही है

यह जगत् भावमय है, जिसकी जैसी भावना रहती है, उसे प्रभु की वैसी ही मूर्ति दिखायी देती है। समस्त उपासनाओं का एकमात्र लक्ष्य यही है कि सब में—चराचर विश्व में वे ही प्रभु दिखायी देने लगें। जिधर भी दृष्टि जाय उधर वही दिखायी दें। यह जगत् क्या है ? यह उन प्रभु का स्वरूप ही है। इस जगत् को बनाकर इसी में वे प्रवेश कर गये हैं। बाहरी जगत् हमारे भीतर भी ज्यों-का-त्यों अवस्थित है। जो ब्रह्माण्ड में है वही सब पिंड में भी विद्यमान है। अतः जिस अश्व को परम पावन बलि मानकर अश्वमेध यज्ञ में जिसका उपयोग किया जाता है, वह अश्व भी अखिल ब्रह्माण्ड रूप नारायण का स्वरूप ही है। उसके अंग-प्रत्यङ्गों में विश्व की समस्त मुख्य-मुख्य सामग्री की कल्पना करके भावना के अनुसार भावमयी उपासना करनी चाहिये यही अश्वमेध उपासना का सार है। अब अश्व के किस-किस अंग में विश्व की किस-किस वस्तु की भावना करनी चाहिये। इसी का वर्णन आगे भगवती श्रुति के द्वारा हुआ है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब भगवती श्रुति अश्वमेध उपासना का वर्णन करते हुए बताती है—अश्वमेध यज्ञ का जो अश्व है उसके अंगों में काल के अवयवों की भावना करनी चाहिये। यही बृहदारण्यक उपनिषद् का आरम्भिक विषय है। उपनिषद् आरम्भ के पूर्व शान्ति पाठ करना चाहिये—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्ति !!!

दोहा—वह पूरन यह पूर्ण है, पूर्ण पूर्ण उपजायँ।
पूरन तैं पूरन गहैं, तऊ पूर्ण बचि जायँ॥

अश्वमेध का जो अश्व है उसके शरीर में उषाकाल की भावना करनी चाहिये।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! उषाकाल कौन-सा होता है ? और अश्व की इतनी महिमा क्यों है ?"

सूतजी बोले—"भगवन् ! रात्रि के पिछले पहर तीसरे मुहूर्त को ब्राह्म मुहूर्त कहते हैं। सूर्योदय से अट्ठावन घड़ी के पूर्व समय को जब आकाश में लाली के सहित कुछ कुछ प्रकाश की किरण दीखने लगे प्रातःकाल कहते हैं। उसके एक घड़ी पूर्व के समय को अरुणोदय कहते हैं। प्रातःकाल होते ही घड़ी भर के पहिले सूर्य के सारथी अरुण दिखायी देने लगते हैं। पैरहीन सारथी अरुण का शरीर लाल रंग का है, उस काल में आकाश में लाली छा जाती है। अरुणोदय से दो घड़ी पश्चात् अर्थात् सूर्योदय से पचपन घड़ी के पूर्व के समय को ऊषा काल कहते हैं। अर्थात् सूर्योदय से दो घड़ी पूर्व प्रातःकाल उसके एक घड़ी पूर्व अरुणोदय और अरुणोदय से दो घड़ी पूर्व उषाकाल होता है। ये सूर्य-नारायण ही जगत् के प्रकाशक हैं। इनके घोड़े वेदमय हैं। भगवान् का एक अवतार घोड़े के सिर वाला हयग्रीवावतार हुआ है। देवताओं में इन्द्र और वायु दोनों अत्यन्त ओजस्वी माने जाते हैं, इनमें वायु अत्यन्त वेग से चलने वाले हैं। ये दो देवता अश्व के शरीर में विशेषरूप से निवास करते हैं। इसलिये अश्व पशुओं में अत्यन्त ओजस्वी माना जाता है। जहाँ शक्ति की नाप होती है वहाँ सिंह, हाथी तथा बैल आदि की शक्ति से माप नहीं होती, शक्ति की माप सदा घोड़े की शक्ति (हार्स पावर) से ही की जाती है। संसार के जितने भी प्राणी हैं। उनके छोटे बड़े सबके स्तन होते हैं। अर्थात् सब में कुछ न कुछ स्त्रीत्व रहता है। घोड़े के शरीर में स्तनों के चिन्ह तक नहीं रहते अतः एकमात्र घोड़ा ही

पूर्ण पुरुष माना जाता है। इसीलिये अश्वमेध यज्ञ में परम पावन मानकर इसका उपयोग होता है। इसीलिये इसके अंगों के साथ काल के अवयवों की तुलना की गयी है।

हाँ तो यज्ञ सम्बन्धी अश्व का सिर तो उषाकाल है। खुला हुआ मुख मानों वैश्वानर नामक अग्नि है। अश्व की आत्मा मानों संवत्सर है। उसकी पीठ द्युलोक है। उसका उदर अन्तरिक्ष है। उसके पैर रखने का स्थान ही मानों पृथ्वी है। अश्व का जो पार्श्व भाग है वही मानों समस्त दिशायें हैं। उपदिशायें वा अवान्तर दिशायें मानों उसकी पसलियाँ हैं। उसके अंग ही मानों ६ ऋतुएँ हैं। उसके जो पर्व हैं, वे ही मास तथा पक्ष हैं। पीछे के दो पैर मानों दिन तथा रात्रि हैं। उसकी हड्डियाँ मानों सत्ताइस नक्षत्र हैं। आकाश अथवा आकाशस्थित मेघ ही उसका मांस है। उसके पेट में अधपका भोजन है, वही मानों सिकता अर्थात् बालू है। उसकी समस्त नाड़ियाँ ही मानों समस्त नदियाँ हैं। हृदयगत मांस खण्ड और यकृत ही उसके मानों पर्वत हैं। उसके जितने रोयें हैं मानों वे ओषधि और वनस्पतियाँ हैं। उसकी नाभि के ऊपर का भाग प्रातःकाल से मध्यान्ह काल तक ऊपर की ओर जाता हुआ सूर्य है। इसी प्रकार कटि से नीचे का भाग मानों मध्यान्ह से सायंकाल पर्यन्त नीचे की ओर जाता हुआ सूर्य है। अश्व जो जमुहाई लेता है, वह मानों विद्युत की चमक दमक है। वह जो शरीर को हिलाता है, वह मानों मेघों की गर्जना है। वह जो मूत्र त्याग करता है, वही मानों जल की वर्षा है। उसका बोलना ही मानों वाणी है।

अश्वमेध यज्ञों में यज्ञीय अश्व के आगे और पीछे सुवर्ण तथा चाँदी के दो यज्ञीय पात्र ग्रह रखे जाते हैं। उन ग्रहों की महिमा संज्ञा है। तो अश्व के सामने जो सुवर्ण पात्र–महिमा ग्रह है वह

मानों दिवस है उसकी पूर्वसमुद्र योनि है। चाँदी का जो पीछे का महिमा ग्रह पात्र है वही मानों रात्रि है उसकी पश्चिम समुद्र योनि–प्रकट होने का स्थान–है। ये दो महिमा संज्ञक ग्रह ही मानों दिन रात्रि हैं।

इसी अश्व की देवताओं में 'हय' इस नाम से प्रसिद्धि है। गन्धर्वों में इसको 'वाजि' कहते हैं। असुरों में इसका नाम 'अर्वा' है और मनुष्यों में इसे अश्व कहते हैं। अश्व नाम से ही यह मनुष्यों को अपनी पीठ पर चढ़ाकर इधर से उधर ले जाता है, उनके भार को वहन करता है। इसका सगा सम्बन्धी प्रेम में बाँध लेने वाला बन्धु समुद्र ही है। और समुद्र मन्थन के समय चौदह रत्नों में से एक रत्न यह अश्व भी उत्पन्न हुआ था अतः समुद्र इसकी योनि है–उत्पत्ति का स्थान है। इस प्रकार यह अश्व परम पवित्र है। इसकी उत्पति भी समुद्र से है। और इसके अंग भी काल-मय तथा विश्वमय है। देवता, असुर गन्धर्व तथा मनुष्यों में सर्वत्र इसका आदर होता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह अश्वमेध यज्ञ के यज्ञीय अश्व की स्तुति के ही निमित्त उसके अंगों में काल के अवयवों की तथा पृथ्वी की अन्य वस्तुओं की कल्पना की गयी। अब अश्वमेध यज्ञ में उपयोग आने वाली अग्नि की उत्पत्ति कैसे हुई इस विषय का वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय–अस्थि सकल नक्षत्र मांस ही मेघ कहाये॥
बालू अधपक अन्न नदी नाड़ी बतलाये॥
गिरि–हिय भांतहु यकृत वनस्पति औषधि रोमहु।
ऊभ्वग रवि हय उपरि भाग कटि नीचे नीचहु॥
जमुहाई विद्युत चमक, तन कम्पन गर्जन कही।
मूत्र त्याग वर्षा कही, वाणी वाणी ही रही॥१॥

(२)

आगे पीछे महिम रात्रि दिन प्रकट भये हय।
पूरब पश्चिम जलधि योनि प्रकटे तिहि हय मह॥
गन्धर्वनि कूँ वाजि सुरनि हय अर्वा असुरनि।
बन्धु योनि तिहि जलधि अश्व बनि धारे पुरुषनि॥
अश्वमेध को अश्व यह, कह्यो कालमय शुचि परम।
करैं उपासन भाव तैं, ते पावैं प्रभु-पद-परम॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद के प्रथम अध्याय का
प्रथम अश्वमेध ब्राह्मण समाप्त।

अश्वमेधोपासना (२)

[१९८]

नैवेह किञ्चनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीत् । अशनाययाशनाया हि मृत्युस्तन्मनोऽकुरुतात्मन्वी स्यामिति । सोऽर्चन्नचरत्तस्यार्चत आपोऽजायन्तार्चते चै मे कमभूदिति । तदेवार्कस्यार्कत्व क ह वा अस्मै भवति य एवमेतदर्कस्यार्कत्व वेद ॥*

(बृ० उ० १ अ० २ ब्रा० १ मं०)

छप्पय

प्रथम कछु नहीं हतो मृत्यु अरु क्षुधा ढक्यो सब ।
मनतें होउँ युक्त भया अर्चन तें अप तब ॥
अप अर्कहिं-जल-थूल मईं भू मृत्यु थक्यो पुनि ।
ता तन को जो सार तेज तिहिं अग्नि प्रकट मुनि ॥
अग्नि, वायु, आदित्य ये, प्राण त्रिधा विभजित भयो ।
शिर पूरब जघा विदिशि, पार्श्व दक्खिन उत्तर कह्यो ॥

---

* इस जगत् में पहिले यहां कुछ भी नहीं था। यह सबका सब मृत्यु से ढका था। क्षुधा से ढका था। क्षुधा ही मृत्यु है। उसने संकल्प किया मैं मन से आत्मा वाला—मन वाला—हो ऊं। उसने अर्चन करते हुए आचरण किया. भी अर्चन से आप-जल हुआ। अर्चन करने से मुझे क—जल प्राप्त हुआ है। यही अर्क का अर्कत्व है। जो अर्क के अर्कत्व को इस प्रकार जान लेता है, उसे क—सुख की प्राप्ति होती है।

यह विश्व ब्रह्माण्ड विराट् पुरुष से उत्पन्न हुआ है। पहिले अप्-वीर्य-की उत्पत्ति की। उसमें अपना वीर्य-यश तथा प्राण-को स्थापित किया। तब उस ब्रह्म का गोलाकार अंडा बन गया। काल की अवधि बनी। अवधि से वह अंडा फूटा, उसके दो भाग हो गये। ऊपर के सात स्वर्ग नीचे के सात पाताल। वह अंडा ही सृष्टि का आदि बीज था। उपनिषदों में तो सर्वत्र सृष्टि का क्रम संक्षेप में बताया है, किन्तु पुराणों में इस विषय का वर्णन विस्तार के साथ किया गया है। श्रीमद्भागवत में विदुरजी के पूछने पर भगवान् मैत्रेयमुनि ने जो सृष्टि का वर्णन किया है, वह बहुत विस्तार के साथ तथा सुगम और सबके जानने वाली भाषा में किया गया है। श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के पंचम और षष्ठ दो अध्यायों में इतनी सुन्दरता से इस विषय को बताया, कि साधारण बुद्धि वाला व्यक्ति भी सरलता से इसे समझ सकता है। जिसे जिज्ञासा हो उन अध्यायों को ध्यान पूर्वक देखें सुनें और मनन करें। जो औपनिषद् ज्ञान उपनिषदों में संक्षेप में कहा है, उसी को पुराणों में विस्तार से समझाया गया है। अब यहाँ तो अश्वमेध प्रकरण में अग्नि, वाणी और अश्व की उत्पत्ति बताने को प्रसंगानुसार ही सृष्टि की उत्पत्ति बतायी हैं।

सूतजी कहते हैं—सुनियो! पहिले यहाँ पर-इस जगत् में-इस विश्व ब्रह्मांड में-कुछ भी नहीं था केवल तम ही तम था। यह प्रलयकालीन अवस्था का वर्णन है। कुछ भी नहीं था का तात्पर्य यही है कि यहाँ घोर अंधकार ही अंधकार था। तम कहो, मृत्यु कहो, भूख कहो एक ही बात है। मरणशील प्राणी को मर्त्य कहते हैं, जिस लोक मे प्राणियो की मृत्यु होती है उस लोक का नाम भी मृत्युलोक है। जन्म का-उत्पत्ति का-कारण मृत्यु ही है। क्योंकि जिसका जन्म है उसकी मृत्यु ध्रुव है, और जिसकी मृत्यु हुई है

उसका जन्म उत्पत्ति भी निश्चित है। प्रलयकाल में और सब तो ब्रह्म में लीन हो ही गया था। केवल तम-अन्धकार-मृत्यु-अथवा अज्ञान ही शेष बचा था। प्रलयकाल में-सब मृत्यु से भूख से आवृत्त था। उस भूख को क्षुधा कहो अशनाया कहो मृत्यु कहो सब एक ही बात है। उस मृत्यु में भगवान् ने सकल्प शक्ति का सचार किया। अतः उसने सकल्प किया कि मैं आत्मा से-देह या मन से-युक्त हो जाऊँ। तब वह देहवान्-मनवान्-हो गया तब उसने अर्चन करते हुए आचरण किया। अर्चन से-पूजन से-धनधान्यादि की उत्पत्ति होती है। अतः अर्चन करते हुए उसके आचरण करने से आदि में अप् (सूक्ष्म जल) की उत्पत्ति हुई। उन उसी की अर्क सज्ञा हुई। अर्क सज्ञा क्यों हुई? अर्चन करते हुए मेरे लिये क-जल अथवा सुख-की प्राप्ति हो। यही अर्क का अर्कत्व है। अर्क शब्द के अनेक अर्थ हैं। यहाँ अर्क से अभिप्राय जल से है। अर्चन करते हुए मुझे जल की प्राप्ति हो जो-इस प्रकार अर्क का अर्थ भलीभाँति जान लेगा उसे सुख की प्राप्ति होगी। जल में प्रवेश करते ही सभी हँसने लगते हैं, प्रसन्नता को सुख की अनुभूति करने लगते हैं। इसीलिये जल नारायण का स्वरूप है। जल में नारायण की पूजा करनी चाहिये आप-जल-ही अर्क है। उस जल से ही पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। जल से पृथ्वी कैसे हो गयी? आप समूह का जो स्थूल भाग था वह स्थूल अश जमते-जमते पृथ्वी हो गयी जल का जमा हुआ स्थूल भाग ही तो पृथ्वी है। पृथ्वी के ऊपर, नीचे, दायें-बायें सर्वत्र जल ही जल तो है। मृत्यु कहो, तम कहो, अन्धकार कहो यह सब नारायण के ही रूप है। दुःख देने वाला, सबको हरण करने वाला, मृत्यु ये सब लीलाधारी कर्तृत्व प्रधान नारायण के ही नाम हैं। मृत्यु रूप नारायण ने मन से सकल्प किया देहवान् मनवान्

पूजन करते हुए आप जल को और पृथ्वी को उत्पन्न किया। कर्तव्य प्रधान प्रजापति थे। इतना परिश्रम करने पर वे श्रमित हो गये थकित हो गये। इतनी तपस्या की, श्रम किया अतः उन तपोतप्त और परम श्रमित प्रजापति के शरीर से ।उसका सारभूत एक प्रकार का तेज निकल पड़ा। वह तेज ही मानों अग्नि है। संकल्प, देह, मन, जल, पृथ्वी तथा अग्नि ये सब मृत्यु रूप नारायण प्रजापति के अङ्ग से ही उत्पन्न हुए। उस अग्नि ने अपने को तीन भागों में विभक्त कर लिया। एक तो अग्नि का भाग, दूसरा भाग सूर्य हुआ, तीसरा भाग वायु या प्राण है। अग्नि, वायु, सूर्य ये प्राण ही तीन भागों में बँट गये। अब यह प्रजापति अग्नि रूप में हो गया। अब इस प्रजापति के स्वरूप का वर्णन करते हैं। अवकाश में—आकाश में—ही मृत्यु रूप प्रजापति ने संकल्प, मन, जल, पृथ्वी आदि की उत्पत्ति की। आकाश में दशों दिशायें हैं। इस अग्नि रूप विराट प्रजापति का पूर्व दिशा तो मानों सिर है। इस पूर्व की इधर-उधर की विदिशायें (ईशान कोण और अग्नि कोण) मानों उसके दोनों हाथ हैं। पश्चिम दिशा इसका पुच्छ भाग है। यह अग्निरूप विराट् पुरुष पुच्छ वाला है। इसी प्रकार पश्चिम दिशा की इधर-उधर की विदिशायें (वायव्य कोण और नैऋत्य कोण) उसकी दोनों जंघायें हैं। अब आठ दिशाओं में से शेष रह गयीं दक्षिण और उत्तर दिशायें। ये दोनों दिशायें उसके दोनों पार्श्व भाग हैं। पृथ्वी उसका हृदय है, अन्तरिक्ष लोक उसका उदर है। और स्वर्ग लोक उसका पृष्ठ भाग है। यह अग्निरूप विराट् प्रजापति जल में प्रतिष्ठित है। इसीलिये जल में तेज विद्यमान रहता है। जैसे पिता की प्रतिष्ठा पुत्र है। पुत्र जहाँ भी जायगा वहाँ पिता के नाम से प्रतिष्ठित होगा, अमुक का पुत्र है ... स्थानों में सर्वत्र उसके पिता का नाम लिया जायगा,

क्योंकि पुत्र पिता की प्रतिष्ठा है। इसी प्रकार अग्नि जल में प्रतिष्ठित है अतः जल अग्नि की प्रतिष्ठा है, इस बात को जो सम्यक् प्रकार से जान लेता है, वह जहाँ भी कहीं जाता है, वहीं प्रतिष्ठित होता है, अर्थात् उसकी सर्वत्र प्रतिष्ठा होती है।

अब उस मृत्यु या क्षुधा रूप प्रजापति के शरीर से जल तथा पृथ्वी हुई। श्रान्त होने पर अग्नि रूप से आदित्य, वायु और अग्नि की उत्पत्ति हुई जो जल में प्रविष्ठित हुआ। इस प्रकार अश्वमेध की अङ्गभूत जो चिति अग्नि की उत्पत्ति हुई। अश्वमेध यज्ञ में अग्नि की प्रधानता है। अग्नि के पश्चात वाणी की प्रधानता है। यदि अग्नि है और वेद मन्त्रों के पाठ करने को वाणी न हो, तो यज्ञ कार्य सम्पन्न कैसे होंगे, अतः अग्नि की उत्पत्ति बताकर अब वाणी की उत्पत्ति बतायी जाती है, कि वाणी कैसे उत्पन्न हुई।

इस मृत्यु रूप प्रजापति ने पुनः संकल्प किया, मेरी दूसरी देह उत्पन्न हो जाय। अतः क्षुधारूप मृत्यु ने अपने मन से और वेदत्रयी से मिथुन होने की भावना की। उससे जो रेत–वीर्य–बिन्दु हुआ वही काल का मापक सम्वत्सर हुआ। इससे पूर्व काल रूप में प्रभु ही थे। काल का मापक सम्वत्सर नहीं था। उस मृत्यु ने मन से वेद के साथ जो मिथुन होने की भावना से संवत्सर वीर्य हुआ उसे मृत्यु रूप प्रजापति ने बारह मास तक अपने गर्भ में धारण किया। बारह मास सम्वत्सर का काल होता है। अर्थात् बारह महीने का सम्वत्सर होता है। बारह मास पश्चात् तेज रूप में एक बालक सम्वत्सर हुआ। मृत्यु प्रजापति क्षुधा युक्त तो था ही। उस तेज पुंज सम्वत्सर नामक उस बालक को देखकर उसे खाने के निमित्त मुख फाड़ा तब उस अग्नि रूप–तेज युक्त–बालक के मुख से 'भाण्' ऐसा शब्द निकल पड़ा

वही वाक् वाणी या प्रथम शब्द हुआ। मृत्यु रूप प्रजापति और वेदत्रयी के संगम से जो संवत्सर बालक हुआ उसे क्षुधित मृत्यु प्रजापति ने खाना चाहा। किन्तु पुनः उसने सोचा—"इसे मैं भक्षण कर जाता हूँ—अर्थात् इसे प्राप्त करके मैं अपने को कृतार्थ मान बैठता हूँ, तब तो मुझे थोड़ा ही अन्न भोजन के निमित्त मिलेगा। अतः इसका विस्तार करूँ जिससे बहुत खाने को अन्न मिले। क्योंकि अन्न उसे कहते हैं, जो खाया जाय अथवा जो हमें स्वयं खा जाय। (अद्यते अत्ति भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते) अतः अधिक खाने की अभिलाषा से उसने वाणी और मन के द्वारा इन सबकी रचना की। *किन-किन की रचना की? जैसे* ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, छन्द, यज्ञ, समस्त प्रजावान्, पशु-पक्षी-गण। मृत्यु प्रजापति क्षुधा से युक्त ही ठहरे। अतः जिसे पैदा करें उसी को खाने को दौड़े, भाव यह हुआ, कि जन्म के साथ ही भूखी मृत्यु भी साथ उत्पन्न होती है। जन्म से पहिले ही मृत्यु निश्चित हो जाती है, मृत्यु मुख फाड़े सदा प्राणियों के साथ-ही-साथ रहती है। अद् धातु भक्षण अर्थ में प्रयुक्त होती है। यह मृत्यु रूप प्रजापति सबको अति—खाता है इसीलिये उसका एक नाम अदिति भी है। ये सब भगवान् के ही नाम हैं भगवान् के ही रूप हैं। *वे ही मन हैं, वे ही प्रजापति हैं, वे ही अग्नि हैं, वे* ही संवत्सर हैं और वे ही अदिति हैं इसीलिये यजुर्वेद में कहा है। स्वर्गलोक अदिति है, अन्तरिक्षलोक अदिति है, अदिति ही माता है, अदिति ही पिता है। सबका भक्षण करना, सबको अन्त में समेट कर उदरस्थ कर लेना यही अदिति का अदितित्व है। अर्थात् सब को भक्षण करने वाला यह काल स्वरूप कृष्ण ही है। जो इस प्रकार इस अदिति के अदितित्व को जान लेता है, वह मोक्ता—अत्ता (खाने वाला) होता है। वही सबका अन्न

होता है। भाव हुआ जो अन्न को खाता है, वह भी किसी के खाने योग्य अन्न होता है, छोटी मछलियों को बड़ी मछलियाँ खा जाती हैं, बड़ी मछलियों को और जीव खा जाते हैं। जो खाता है वह भी किसी द्वारा खाया जाता है, जीव ही जीवों को भक्षण करते हैं। सभी खाये जाते हैं सभी खाते हैं। अन्न ही ब्रह्म है। अदिति परमात्मा ही सब का भक्षण करता है।

अश्वमेध में उपयोग आने वाली समस्त वस्तुओं की उत्पत्ति बता रहे हैं। पहिले अश्वमेध सम्बन्धी अग्नि का उत्पत्ति के प्रकरण में सुदित मृत्यु प्रजापति के द्वारा जल, पृथ्वी, अग्नि, आदित्य, प्राण, वायु, दिशायें तथा त्रिलोकी की उत्पत्ति बतायी। अर्थात् यज्ञीय स्थान निर्माण, अग्निहोत्र की अग्नि उत्पन्न हो गयी। केवल यज्ञ वेदी यज्ञाग्नि से ही कार्य तो न चले अश्वमेध यज्ञ सम्बन्धी जब तक मन्त्र न पढे जायँगे तब तक यज्ञ कैसे होगा। अतः काल के मापक सवत्सर और जिस वाणी से वेद मन्त्र पढे जाते हैं उस वाणी की उत्पत्ति के ही प्रकरण में सवत्सर, वेद-त्रयी, छन्द, यज्ञ तथा समस्त प्रजा और पशुओं की उत्पत्ति बतायी। अब स्थान हो गया, दिशाओं का ज्ञान हो गया, काल का ज्ञान हो गया, यज्ञ करने कराने वाली प्रजा की उत्पत्ति हो गयी। मन्त्रों को पढने को वाणी तथा वेदत्रयी हो गयी। अब अश्वमेध यज्ञ में यज्ञीय मेध्य पशु अश्व की उत्पत्ति की कथा और रह गयी। यदि अश्व उत्पन्न होकर अश्व और आ जाय, तो अश्वमेध की सभी सामग्रियाँ जुट जायँ। अतः अब अश्व की उत्पत्ति और बतायी जाती है। पहिले तो उस मृत्यु रूप परमात्मा ने यह कामना की, कि मैं आत्मा से युक्त होऊँ तब तो उसने देहवान्-आत्मावान् बनकर अप् की अग्नि की उत्पत्ति की। और अपने को अग्नि, आदित्य और प्राण वायु तीन भागों में विभक्त कर लिया।

दूसरी बार उसने दूसरे शरीर की कामना की जिससे संवत्सर प्राणी वेदत्रयी की उत्पत्ति हुई।

अब तीसरी बार उसने ऐसे शरीर की कामना की जिसके द्वारा मैं अश्वमेधादि बड़े भारी यज्ञ से यजन करूँ। यज्ञों में तो श्रम बहुत पड़ता है, अतः यज्ञ की कामना करने से ही वह श्रमित हो गया। तब उसने तप किया। उसका विचारना ही ज्ञानमय तप है। जिस शरीर से तप किया था मृत्यु प्रजापति के उस शरीर से यश और वीर्य निकल गया। यश वीर्य निकल गये अर्थात् प्राण निकल गये। क्योंकि शरीर में प्राणों के रहते ही यश तथा वीर्य है। प्राणहीन शरीर तो अशुद्ध अशुचि हो जाता है, उसमें न बल रहता है न यश रहता है, वह तो शव हो जाता है। प्राण शरीर से पृथक् होने पर प्राणहीन शरीर ने फूलना आरम्भ किया। यद्यपि उस प्रजापति के शरीर से उनके प्राण तो अवश्य पृथक् हो गये थे, किन्तु उनका मन तो शरीर में ही रहा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार मृत्यु प्रजापति का वह प्राणहीन शरीर अमेध्य–अशुचि–हो गया। जैसे कोई किसी अपने प्रियस्थान से या प्रिय पुरुष के पास से–शरीर द्वारा दूर देश चला जाता है, किन्तु उसका मन वहीं रह जाता है, उसी प्रकार प्रजापति का मन उस प्राणहीन अमेध्य शरीर में ही रहा आया। अब जैसे उस अमेध्य प्राणहीन शरीर में मृत्यु प्रजापति पुनः प्रवेश करके उसे यज्ञ के योग्य मेध्य–पवित्र–अश्व बना लेंगे और इस अश्वमेध उपासना का क्या फल होगा इसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

अन्तरिक्ष है उदर पीठ द्यु हु भूमि हृदय गति ।
अग्नि प्रजापति जलहिँ बसे जाने सुप्रतिष्ठित ॥
मृत्यु कामना करी वेद मन मिथुन रेत सो ।
सम्वत्सर तिहि बन्यो गर्भ बसि तितककाल सो ॥
अड फुट्यो बालक भयो, भाण शब्द करि वाक् सो ।
करी कामना यजन की, श्रमित भयो है श्राप सो ॥

अश्वोत्पत्ति और अश्वमेधोपासना का फल

[१६६]

सोऽकामयत भूयसा यज्ञेन भूयो यजेयेति । सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य यशो वीर्यमुदक्रामत् । प्राणा वै यशो वीर्यं तत्प्राणेषूत्क्रान्तेषु शरीरँ श्वयितुमध्रियत तस्य शरीर एव मन आसीत् ॥❀

(बृ० उ० १ अ० २ ब्रा० ६ मं०)

छप्पय

पुनि तानें तप कर्यो अमित तपयुत मृत्युहिँ तब ।
निकसे यश अरु वीर्य प्राण ही यश वीरज सब ॥
प्राण निकसि जब गये देह फूली भारी अति ।
तातैं भई अमेध्य मनहिँ परि इतहिँ प्रजापति ॥
करी कामना मेध्य की, देह हौं बनि जाउँ इत ।
अश्वत-फूली-देह वह, मेध्य अश्व सो भयो उत ॥

❀ "मैं बड़े भारी यज्ञ द्वारा यजन करूँ" ऐसी उसने पुनः कामना की । इससे वह थक गया । उसने तपस्या की । उस प्रजापति मृत्यु का श्रमित तथा तपित होने के कारण वीर्य निकल गया । प्राण ही यश तथा वीर्य है । प्राणहीन शरीर ने फूलना प्रारम्भ किया प्राण तो शरीर नष्ट गया, किन्तु प्राणहीन शरीर में मन में अटका ही रहा ।

उपासना का रहस्य इतना ही है, कि यज्ञ के समस्त संभारों में-समस्त सामग्रियों में परमात्मभावना-परब्रह्मभावना-करनी चाहिये। यही बात भगवान् ने गीता में कही है। यज्ञों में जो हवि अर्पण की जाती है वह अर्पण क्रिया भी ब्रह्म है। हविष्य जो होमा जाता है, वह भी ब्रह्म है, जिस अग्नि में हवन किया जाता है, वह भी ब्रह्म है, जो हवन कर्ता है वह भी ब्रह्म है, आहुति भी ब्रह्म है। इस प्रकार ब्रह्म भावना से यज्ञ करने वाले को अन्त में ब्रह्म की ही प्राप्ति होती है।* यह तो भावना की बात हुई। ये उपासना वाले कहते हैं, यज्ञों में उपयोग आने वाले समस्त संभार परब्रह्म स्वरूप ही हैं, इसकी जानकारी भर प्राप्त कर लो तुम्हें यज्ञ का फल उससे भी श्रेष्ठ फल मिल जायगा। यज्ञों में यज्ञ करने का स्थान पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, यजमान, पुरोहित, सामग्री ये परमावश्यक हैं। ये सब ब्रह्म का शरीर हैं, ब्रह्म रूप ही हैं उसका जल शरीर है, पृथ्वी उसका शरीर है, अग्नि उसका शरीर है, तेज उसका शरीर है, वायु उसका शरीर है। आदित्य उसका शरीर है। दिशायें उसका शरीर हैं ये सब बातें वृहदारण्यक उपनिषद् में कही गयी हैं। अश्व भी भगवान् का स्वरूप है। ऐसी भावना करने वाला अश्वमेध के फल को प्राप्तकर लेता है। भक्ति-मार्ग में जहाँ प्रणाम का प्रकरण आया है, वहाँ प्रणाम का माहात्म्य बताते हुए कहा गया है—श्रीकृष्ण को एक भी प्रणाम किया जाय, तो वह एक ही प्रणाम दश अश्वमेध यज्ञों के बराबर फल देने वाला है। बराबर ही नहीं अपितु उनसे भी अधिक फल देने वाला है। दश अश्वमेध करने वाला तो अपने पुण्यों का स्वर्गादि

---

* ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥
(श्री भा० गी० ४ अ० २४ श्लोक)

ही शरीर है। जो इसे इस प्रकार जानता है, वही वास्तव में अश्वमेध को जानता है, अश्वमेध का यथार्थ फल उसी जानकार को प्राप्त होता है।

अब इस अश्वमेध का तात्पर्य बताते हैं। जब यह निष्प्राण फूला हुआ अमेध्य शरीर अश्व के रूप में मेध्य बन गया तो उस मृत्यु रूप प्रजापति ने इस अश्व को अवरोध रहित बना दिया। खुला छोड़ दिया, खूँटे आदि से बाँधा नहीं। एक सम्वत्सर के पश्चात् उसने उस प्रजापति के अश्व शरीर को अपने ही निमित्त आलभन किया। अन्य पशुओं का भी देवताओं के निमित्त बनाकर उनका आलभन किया। उन्हें तत्तद् देवताओं के समीप पहुँचाया। इसीलिये यज्ञों में याज्ञिक लोक वेद के मन्त्रों द्वारा उस बलिदान के पशु का संस्कार करके उसे सर्वदेव सम्बन्धी प्राजापत्य पशु मानकर उसका आलभन-करते हैं यह जो आदित्य-सूर्यनारायण-तपता है, वही मानों अश्वमेध यज्ञ है। उस अश्वमेधीय अश्व का सम्वत्सर ही शरीर है। यह अग्नि ही अर्क है। जितने ये लोक हैं वे इस अश्व की आत्मा हैं। अग्निदेव और आदित्यदेव ये ही दोनों अर्क और अश्वमेध हैं। इन अर्क और अश्वमेध का देवता एक ही यह मृत्युरूप प्रजापति है। इस प्रकार अश्वमेध के यथार्थ रहस्य को जानकर जो मन के द्वारा इसका मनन करता है, वह फिर मृत्यु के चक्कर में नहीं फँसता। जैसे अश्वमेध का अश्व सब पर विजय प्राप्त करके लौट आता है, उसी प्रकार इस उपासना को जानने वाला मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है। वह पुनर्मृत्यु को जीत लेता है। मृत्यु बहुत खोजने पर भी उसे पा नहीं सकता। क्योंकि मृत्यु उसकी अपनी अन्तरात्मा बन जाती है। और जितने भी ये यज्ञ सम्बन्धी देवता हैं वे सब भी इसमें एकीभूत हो जाते हैं।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! यह मैंने आप सबसे अश्वमेधोपासना कही। इसका तात्पर्य यही है, कि सब मे ब्रह्मभाव रखकर उपासना करनी चाहिये। अब आगे देवताओं और असुरों में जैसे उद्गान को लेकर स्पर्धा हुई। उस साम के उद्गाथ सम्बन्धी विचारों को मैं आगे आप को बताऊँगा। आशा है आप स्वस्थचित्त होकर, इस पुण्यप्रद कथा को ध्यान पूर्वक सुनने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

(१)

सम्वत्सर तक अश्व प्रजापति छुट्टल छोड्यो।
पुनि अपने हित कर्यो आलभन नातो तोड्यो॥
अश्वमेध में करैं आलमन पशु देवनि प्रिय।
अश्वमेध रवि तपन देह सम्वत्सर तिहि प्रिय॥
अग्नि अर्क सब लोक ही, आत्मा अग्नि अदित्य है।
अश्वमेध अरु अर्क द्वय, देव किन्तु वे एक हैं॥

(२)

जो जानें जा रहस प्रजापति मृत्युहि माने।
देव ब्रह्म ही रूप ब्रह्म सबई में जाने॥
अग्नि, अश्व, यजमान, पुरोहित, सामग्री सब।
उनहीतैं उत्पत्ति उनहिं में लीन होहिं सब॥
जीति मृत्यु कूँ लेइँ वे, मृत्यु ताहि पावै नहीं।
मृत्युदेव आत्मा बने, का आत्मा मारै कहीं?

इति वृहदारण्यक उपनिषद् के प्रथम अध्याय में
द्वितीय अग्नि ब्राह्मण समाप्त।

प्राणोपासना (१)

[२००]

द्वया ह प्रजापत्या देवाश्चासुराश्च । ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुरास्त एषु लोकेष्वस्पर्धन्त ते ह देवा ऊचुर्हन्तासुरान्यज्ञ उद्गीथेनात्ययामेति ॥ ❀

(बृ० उ० १ अ० ३ ब्रा० १ मं)

छप्पय

कश्यप सुत नर असुर, असुर बहु थोरे सुर सब ।
करत परस्पर डाह करें जय सुर सोचें अब ॥
बानी तैं सुर कहें—करो उद्गान सुरनि हित ।
भोग सुरनि हित गान कर्यो शुभ भाषन निजहित ॥
पाप विद्ध असुरनि करी, अनुचित भाषन जो करत ।
बानी को यह पाप है, स्वारथरत ही अघ निरत ।

पहिले जब सब लोग यज्ञ को सर्वस्व समझते थे। तब सब कार्य यज्ञों द्वारा ही सिद्ध कराया करते थे। किसी के पुत्र नहीं है, तो वह पुत्र प्राप्ति के निमित्त पुत्रेष्टि यज्ञ कराते थे। इसी प्रकार,

---

❀ प्रजापति की दो भाँति की सन्तानें थी, देवता और असुर। उनमें देवता अल्पमत मे थे और असुर बहुमत मे थे इन लोकों मे परस्पर डाह करने लगे। इन दोनो में से देवताओं ने कहा—"हम यज्ञ करके उद्गीथ प्रार्थना द्वारा असुरों को परास्त कर देंगे। उनका अतिक्रमण करेंगे।"

से छिपाकर–कुछ द्रव्यादि का लोभ देकर अपनी इच्छा ऋत्विजों पर प्रकट करी। ऋत्विज् भी लोभ में आ गये। उनमें अध्वर्यु की प्रेरणा से जो होता बने हुए ऋत्विज ब्राह्मण थे। उन्होंने पुत्र सम्बन्धी मन्त्रों को न पढ़कर स्वार्थवश–लोभ के अभिभूत होकर, यजमानी–श्रद्धा देवी की कामना के अनुसार एकाग्र चित्त से पुत्री की भावना से वषट्कार का उच्चारण करके अग्नि में आहुति दी।

स्वाभाविक ही था, जिस भावना से आहुति दी जायगी, वही भावना फलीभूत होगी। मनु के इला नाम की पुत्री हुई। यह हुआ ऋत्विजों के स्वर्थवश विपरीत आचरण के कारण। विपरीत फल देखकर मनु महाराज को बडा आश्चर्य हुआ। उन्होंने अपने पुरोहित वसिष्ठजी से कहा—"भगवन्! वैदिक कर्म भी विपरीत फल देने लगे हैं क्या? मैंने तो पुत्र की कामना से यज्ञ किया था। पुत्री कैसे हुई?"

तब भगवान् वसिष्ठजी ने ध्यान से सब समझ लिया। यह विपरीत फल लोभ के वशीभूत होकर ऋत्विजों के स्वार्थवश हुआ है। फिर वसिष्ठजी ने अपनी तपस्या के प्रभाव से लडकी को ही लडका बना दिया। फिर भी बडा झमट हुआ। यहाँ पर इस कथा कहने का तात्पर्य इतना ही है, कि यज्ञ में नियुक्त ब्रह्मा, अध्वर्यु, होता तथा उद्गातादि ऋत्विजों को लोभ नहीं करना चाहिये अपने स्वार्थवश कोई विपरीत आचरण न करना चाहिये। समस्त पापों का बाप है लोभ। अतः ऋत्विजों को यजमान की इच्छा के विपरीत स्वर्थवश अपने लिये कुछ न करना चाहिये। जो ऋत्विज अपने लिये कुछ पृथक् कार्य करता है, वह पाप से विद्ध हो जाता है, वह पाप प्रचार में सहायक होता है। त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप जब देवताओं के पुरोहित हो

जाये, तो वे देवताओं की इच्छा के विरुद्ध स्वार्थवश चुपके-चुपके असुरों को भी भाग देने लगे। उसी पाप के कारण देवेन्द्र ने उनका वध कर दिया। बड़ा झंझट हुआ पाप की वृद्धि हुई। अतः उद्गातादि ऋत्विजों को स्वार्थ से रहित होकर आचरण करना चाहिये। जो ऋत्विज् ऐसा नहीं करते वे पाप से लिप्त हो जाते हैं। इसी बात को सिद्ध करने के लिये देवताओं की उद्गीथ सम्बन्धी कथा कही गयी है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! प्रजापति के दो प्रकार की सन्तानें थीं। एक तो दिव्य गुण सम्पन्न देव नामक थे। दूसरे सुरों से भिन्न अदिव्य गुणों वाले असुर थे। असुर ज्येष्ठ थे देवता कनिष्ठ थे। असुर बहुमत में थे देवता अल्प मत में थे। उन दोनों में स्वाभाविकी जन्म जात स्पर्द्धा थी, दोनों ही परस्पर में एक दूसरे को जीतना चाहते थे। क्योंकि देवता अल्पमत में थे, अतः वे प्रायः असुरों से पराजित हो जाते थे। अतः एक बार सबने मिलकर मन्त्रणा की, कि इन असुरों को हम कैसे जीतें। इनका अतिक्रमण कैसे करें? सबने मिलकर निश्चय किया, कि यज्ञ ही एक कामधेनु है, इससे जैसी भी कामना करोगे वैसा ही फल प्राप्त हो जायगा। अतः अग्निष्टोम नामक यज्ञ करें। उसमें विजय सम्बन्धी उद्गीथ का गायन उद्गाता नामक ऋत्विज् से करावें उस उद्गीथ द्वारा हम अवश्य ही असुरों का अतिक्रमण करेंगे।" उस उद्गीथ के द्वारा हमारी जय और असुरों की पराजय हो जायगी।

यह बहुत पहिले की आदि सत्ययुग की कथा है। तब तक वाक् देवता (वाणी) दो ही कार्य करते। एक तो वाणी ऐसे वचन बोलती माला लाओ, चन्दन लाओ, सुगंधित पदार्थ लाओ, सुस्वादु भोजन लाओ अर्थात् भोग पदार्थों को

प्राप्त कराने वाले वचन। दूसरे ऋत, सत्य, और श्रुत मधुर वचन बोलना। अर्थात् सूनृत, सत्य से पवित्र सुन्दर गान युक्त, मन मोहक वाणी बोलना। देवताओं ने सोचा—"इस ज्योतिष्टोम यज्ञ में यदि हम वाग् देवता को अपना उद्गाता बनालें, तो यह सत्य सुन्दर, सुमधुर आकर्षक वाणी में उद्गीथ का गायन करेगा। इससे हम लोगों की कार्य सिद्धि अवश्य हो जायगी।"

ऐसा सोचकर सब देवगण वाणी के अधिष्ठातृ देव वाग् देवता के समीप गये और बोले—"वाग्देवताजी! आप हमारे इस यज्ञ में उद्गाता ऋत्विज का पद ग्रहण करके उद्गीथ गायन कर देंगे क्या?"

वाग्देवता ने कहा—"अवश्य! आपका कार्य सो मेरा कार्य हम सब तो एक ही हैं।"

वाग्देवता की स्वीकृति मिलने पर सभी देवगण बड़े प्रसन्न हुए। वाग्देवता को उद्गाता के पद पर प्रतिष्ठित किया। उसने देवताओं के निमित्त शास्त्रीय विधि से उद्गायन किया, किन्तु वाग्देवता के मन में स्वार्थ आ गया। उसने वाणी में जो भोग था—अर्थात् भोग्य पदार्थों को मँगाने की शक्ति थी उसका गान तो अन्य सब देवताओं के निमित्त किया, किन्तु उसमें जो शुभ बोलने की, सत्य बोलने की, मंगल बोलने की सामर्थ्य थी उसका गान केवल अपने ही लिये किया। यह वाग्देवता का स्वार्थमय अपराध, था उन्होंने अपने कर्तव्य का निःस्वार्थ भाव से निर्वाह नहीं किया।

असुरगण वाग्देवता के भाव को ताड़ गये पहिले तो असुरों ने भयभीत होकर यही समझा कि वाग्देवता द्वारा सामवेद का उद्गान कराकर इस उद्गाता द्वारा देवगण हमारा अतिक्रमण करेंगे। हमें पराजित करके वे विजयलाभ करेंगे। किन्तु जब

उन्हें प्रतीत हो गया, कि देवताओं का उद्गाता ऋत्विज वागदेवता स्वार्थ परायण होने से अशुद्ध है, तो उन्होंने उसे पाप विद्ध कर दिया। कारण यह है जो पवित्र पुरुष हैं, उन पर भूत, प्रेत, पितर, पिशाच असुर राक्षस आक्रमण नहीं कर सकते, किन्तु स्वार्थवश जिनका अन्तःकरण अशुद्ध मलिन हो जाता है, उस पर वे आक्रमण कर देते हैं। वागदेवता ने अपने कर्तव्य का निस्वार्थ भाव से पालन नहीं किया अतः असुरों ने उसके पास जाकर उसे पाप से विद्ध कर दिया। अर्थात् तुमने शुभ भाषण को केवल अपने ही लिये रखा, इस स्वार्थ के कारण तुम सत्य, मंगलमय शुभ ही वचन वाणी से न बोला करोगे, अपितु आज से वाणी कठोर, अनृत, अश्लील, अनुचित तथा पैशुन्ययुक्त वचन भी बोला करेगी। इसलिये वाणी जो भोगमय पदार्थ मँगाती है उसका उपयोग तो सभी इन्द्रियों के अधिष्ठातृदेव करते हैं। जैसे उसने कहा—माला चंदन लाओ, तो घ्राणेन्द्रिय तथा चक्षु इन्द्रिय के अधिष्ठातृदेव इनका उपभोग करेंगे। किन्तु वाणी जो मधुर, हृदय स्पर्शी सत्य, उचित, विशुद्ध वचन बोलेगी तो लोग वाणी की ही प्रशंसा करेंगे। कैसी मधुर मनोज्ञ वाणी है। यह वागदेवता का स्वार्थ था तभी से वाणी से कठोर असत्य वचन भी निकलने लगे। उसी पर लोग वाणी को कोसते हैं। वाक्बाण सबसे अधिक घायल करते हैं। स्वार्थवश वाणी में विकृति आ गयी। देवताओं का मनोरथ सिद्ध नहीं हुआ। असुरों के मन की बात हो गयी।

जब वागदेवता ने धर्मपूर्वक अपने कर्तव्य का पालन नहीं किया, तो देवताओं ने उसे उद्गाता के पद से हटा दिया। अब सोचा—इसके स्थान पर किसे नियुक्त करें? सबने कहा—अबके घ्राण में रहने वाले प्राण को उद्गाता बनाओ। उससे कहा,

उसने स्वीकार कर लिया। उस घ्राण रूप प्राण के मन में भी स्वार्थ समा गया, उसने जो उसमें भोग है उसे तो उसने देवताओं के लिये आगान किया और उसमें जो शुभ सूँघने की शक्ति है उसे अपने लिये आगान किया। इसी दुर्बलता को देखकर असुरों ने उसे भी पाप से विद्ध कर दिया। तब से घ्राण सुगंधि को ही नहीं दुर्गन्ध को भी सूँघने लगा है। यही इसका पाप है। इसी पाप से आविद्ध होने से यह देवताओं की विजय नहीं करा सका।

तदनन्तर देवताओं ने चक्षु से उद्‌गान कराने को कहा। उसने भी स्वीकार करके स्वार्थपरता की। चक्षु में जो भोग है उसका उद्‌गान तो देवताओं के लिये किया, किन्तु जो कुछ वह शुभ देखता है, कल्याणमय दर्शन करता है, उसे अपने लिये गाया। तब असुरों ने उसे भी पाप विद्ध कर दिया। तभी से चक्षु कल्याणमय दर्शन के साथ अकल्याणमय अपवित्र, अननुरूप दर्शन करने लगा। बुरी-बुरी वस्तुओं को भी देखने लगा। यही चक्षु का पाप है।

तब देवताओं ने श्रोत्र से कहा, उसने भी स्वीकार करके कपट व्यवहार किया, श्रोत्र में जो भोग है, उसे तो उसने देवताओं के निमित्ति गाया और जो उसमें शुभ श्रवण करने की शक्ति है, उसे स्वयं के लिये उद्‌गान किया। तब असुरों ने उसे भी पाप विद्ध कर दिया। तभी से श्रवण शुभ के स्थान में अशुभ भी सुनने लगे। पहिले श्रोत्र केवल शुभ बात ही सुनते थे जब से स्वार्थ के कारण पाप विद्ध हो गये, तब से अश्लील बातें, गाली, कटुवाणी ईश्वर निंदा, दूसरों की बुराई आदि बुरी बातें भी सुनने लगे। यही श्रोत्र का पाप है। यही यह स्वार्थपरायणता युक्त पाप है। अब जब इन इन्द्रियों से कार्य सिद्धि न हुई। ये सबके सब पाप से विद्ध हो गये, तब देवताओं ने मन से कहा।

उसके स्वीकार कर लेने पर उसमें भी स्वार्थ परता प्रवेश कर गयी। उसने जो मन में भोग सम्बन्धी भाव आते हैं उसका गान तो देवताओं के लिये किया। किन्तु जो शुभ संकल्प करता है उसे उसने अपने लिये रख कर गान किया। असुरों ने उसे भी पाप से विद्ध कर दिया। मन में जो अशुभ सकल्प उठते हैं, वह जो अननुरूप संकल्प करता है। यही वह स्वार्थपरायणता का पाप है। इस प्रकार वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन ये स्वार्थ के कारण सबके सब पाप विद्ध हो गये, इनसे कार्य की सिद्धि नहीं हुई, तब देवता चिन्ता में पड गये। क्या किया जाय?

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! जब इतने उद्गाताओं से देवताओं का मनोरथ पूर्ण न हुआ ये सब-के-सब स्वार्थ के वशीभूत होकर पाप विद्ध बन गये। तब उन्होंने सोचा-शरीर में सबसे मुख्य अङ्ग मुख है। मुख्य होने से ही मुख कहलाता है। शरीर में वैसे दश प्रकार के प्राण है, किन्तु जो इन सब प्राणों में मुख्य प्राण है, वह मुख्य अङ्ग मुख में ही रहता है। अतः हम मुख्य प्राण से ही उद्गाता बनने की प्रार्थना करनी चाहिये। ऐसा निश्चय करके जैसे समस्त देवगण मिलकर मुख्य प्राण के समीप जायँगे और उनसे उद्गाता बनने की प्रार्थना करेंगे, वह प्रसङ्ग आगे वर्णन किया जायगा, आशा है आप सब इसे सावधानी के साथ श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

—०—

छप्पय

(१)

सुरनि करी पुनि प्राण, चक्षु, मन श्रोत्र प्रार्थना।
करो गान उद्‌गीथ करी नाहीं एकहु ना॥
बल्यो स्वार्थ सब हिये गान कछु निज हित कीन्हों।
पाप विद्ध सब करे भाव असुरनि तिनि चीन्हों॥
प्राण भोग हित सुरनि कूँ, शुभ सूँघन निज हित करयो।
विद्ध प्राण इहि पाप तें, तबहिँ अशुभ सूँघन लग्यो॥

(२)

चक्षु भोग हित गान देव हित शुभ दर्शन निज।
तबतें देखन लग्यो अशुनहू पाप यही द्विज॥
श्रोतहु निज हित कर्यो गान असुरनि सो पापी।
पर निंदा अरु अशुभ सुनै, फरि आपा धापी॥
मन स्वीकारी सुरविनय, ताहू ने संकल्प शुभ।
निज हित राख्यौ तब हितैं, करै मनन यह मन अशुभ॥

प्राणोपासना (२)

(२०१)

ते होचुः क्व नु सोऽभूद्यो न इत्थमसक्तेत्यय
मास्येऽन्तरिति सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानां हि रस ॥*
(बृ० उ० १ अ० ३ ब्रा० ८ मं०)

छप्पय

सब सुर मिलि पुनि मुख्य प्राण तैं करी विनय जब ।
परमारथ हिय धारि कर्यो उद्‌गान प्राण तब ॥
असुरनि गली न दाल सबहिँ खिसियाने हारे ।
देव भये प्रकृतिस्थ विजय के बजे नगारे ॥
जो जानत जा ज्ञानकूँ, होहि प्रकृतिपति थिर सतत ।
करै द्वेष जो तासु तैं, तासु पराभव होइ नित ॥

श्रेष्ठत्व स्वार्थ में नहीं परमार्थ में है। स्वयं के पेट पालने को पुरुषार्थ नहीं कहते। अपने पेट को तो कूकर-सूकर, पशु-पक्षी सभी पाल लेते हैं। पुरुषार्थी-परमार्थी-वो वही है, जो सब का

---

* देवताओं ने मुख्य प्राण की स्तुति करते हुए कहा—"जिसने हमको आसक्त बनाकर हमें देव भाव को प्राप्त कराया, वह रहता कहाँ है? पुनः सोचकर बोले—ओ हो, तो यह तो आस्य-मुख-के भीतर रहता है। अतः यह अयास्य है, समस्त अंगों का रस होने से यह आंगिरस भी है।"

ध्यान रखे। सबके लिये करे। जो अपने लिये न करके सबके लिये करता है, वही सर्वश्रेष्ठ है।

आँखों में अंजन डालो तो आखें उससे अपनी ही ज्योति बढ़ावेंगी। दांतो में मञ्जन लगाओ तो वे अपनी ही चमक बढ़ावेंगे। घ्राण द्वारा सुगंधि सूँघो तो वह अपनी ही परितृप्ति करेगा। वाणी द्वारा मधुर वचन बोलो,तो सभी लोग वाणी की ही प्रशंसा करेंगे, किन्तु आप प्राणों की परितृप्ति के हेतु मुख द्वारा प्राणों को भोजन देंगे, तो प्राण उससे स्वयं परितृप्ति न होकर सम्पूर्ण शरीर को–देह के सभी अंग उपाङ्गों को तृप्ति प्रदान करेगा। सभी को उसके रस द्वारा पालेगा पोसेगा। श्रेष्ठता इसी में है कि श्रम तो अकेला स्वयं करे, किन्तु उसका लाभ सबको पहुँचावे। जाड़े के दिनों में कुछ श्रेष्ठ पुरुष स्वयं ही जाकर अरण्य से अकेले ही लकड़ियाँ ले आते हैं। स्वयं ही आग लाकर उसे अँघियानों में–कोड़ा–में जलाते हैं। आग जलने पर अनेकों लोग उससे ताप कर अपने जाड़े को बुझाते हैं। इसी प्रकार मुख में रहने वाला प्राण खाने पीने के लिये प्रयत्न तो स्वयं ही करता है, किन्तु उसका फल–रस–सबको बाँट देता है। इसीलिये प्राण सभी से श्रेष्ठ है। उसी श्रेष्ठ प्राण की भगवत् बुद्धि से उपासना करनी चाहिये। इस आख्यायिका द्वारा प्राणों का श्रेष्ठत्व सिद्ध किया जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब वाणी घ्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन के गायन द्वारा देवताओं की कार्य सिद्धि नहीं हुई, तब उन्होंने सोचा—"चलो शरीर के मुख्य स्थान में रहने वाले मुख्य प्राण से प्रार्थना करो, वह हमारे लिये उद्‌गीथ का गायन करे।" ऐसा सोचकर सभी देवगण मुख्य प्राण के समीप गये। और

उससे कहा—"हमारी विजय के निमित्त तुम उद्‌गायन कर सकते हो तो करो।"

प्रसन्नता प्रकट करते हुए मुख्य प्राण कहा—"बहुत अच्छी बात है, मैं अवश्य आप सबके निमित्त उद्‌गायन करूँगा।" प्राण देव तो परोपकारी हैं, अन्य इन्द्रियों ने जो उद्‌गायन किया, वह पूर्ण परोपकार भावना से नहीं किया अपने स्वार्थ को बचा रखा था। कुछ अपने लिये कुछ औरों के लिये ऐसे स्वार्थ रक्षापूर्वक उद्‌गायन किया था, किन्तु ये प्राण तो पूर्णरीत्या परोपकारी हैं, ये सभी के हित के लिये करते हैं। व्यक्तिगत अपने लिये कुछ बचाकर नहीं रखते। जो सदा दूसरों का ध्यान रखता है, दूसरे लोग भी उसका ध्यान रखते हैं। उनका अनुगमन करते हैं।

यह बात असुरों को विदित हुई। उन्होंने समझा इस उद्‌गाता के द्वारा देवगण अवश्य ही हमारा अतिक्रमण करेंगे। अतः अन्य इन्द्रियों की भाँति इन्हें भी उन्होंने पाप विद्ध करना चाहा, किन्तु जिसका अपना निज का कोई स्वार्थ है ही नहीं। जो सतत परमार्थ में ही निरत है। जो निरन्तर दूसरों के हित के ही निमित्त कार्य करता रहता है, उसे कोई पापविद्ध कैसे कर सकता है? उन्होंने प्राणों का पाप विद्ध करने का पूर्णरीत्या प्रयत्न किया, किन्तु जिस प्रकार पत्थर की सुदृढ़ शिला से टकराकर मिट्टी का ढेला स्वयं नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार वे असुरगण प्राणों के सम्मुख स्वयं ही विध्वस्त होकर—चूर-चूर होकर—अनेक भाँति से विनष्ट हो गये। अब क्या था, देवताओं की चिन्ता दूर हुई, वे प्रकृतिस्थ होकर गये। असुरों की तो पराजय होनी ही थी।

अब इस प्राणोत्कृष्टता का फल बताते हैं, कि जो प्राणों के इस रहस्य को जान लेता है, वह प्रजापति के समान स्थित हो जाता है। जो लोग उससे द्वेष करते हैं अकारण जलते रहते हैं,

उनका जलन के कारण सौतेले भाई होने पर भी पराभव होता है, निश्चय करके उनको पराजय होती ही है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! असुरों के अमक्त हो जाने पर देवगण परस्पर में कहने लगे—"भाजी, प्राणदेव ने तो बड़ा अद्भुत कार्य किया। उसके सम्मुख अन्य सभी हत श्री हो गये। जिसने हमारी इस प्रकार विजय कराया। हमें जिन्होंने इस प्रकार देवभाव को प्राप्त कराया है। वे रहते कहाँ हैं ? उनका निवास स्थान कौन-सा है ?

कुछ ने इस विषय पर मनन किया, विचार किया और अन्त में कहा—"यह मुख में-आस्य में-रहता है अतः इसे मुख्य या अयास्य कहा करो।"

किसी देवता ने कहा—"प्राण ने कार्य तो अत्यन्त ही अद्भुत किया। जो काम किसी से न हुआ, वह प्राण ने किया। अतः इसे कोई प्रशंसात्मक उपाधि प्रदान करनी चाहिये।"

इस पर मुख्य-मुख्य देवों ने कहा—"प्राण ने हमारे गुरु बृहस्पति के समान बुद्धिमत्ता का काम किया है। इसलिये इसे "अङ्गिरस" की उपाधि से विभूषित किया जाना चाहिये।"

इस पर एक ने कहा—"अङ्गिरस तो अंगिरा के पुत्र को कहते हैं, यह प्राण अङ्गिरा का पुत्र थोड़े ही है।'

इस पर दूसरे ने कहा—'अङ्गिरस का अर्थ है, जो कि यह समस्त अंगों का रस है, सार है, जीवनाधार है। इसके रहते ही समस्त इन्द्रियाँ चैतन्य रहती हैं, देह कर्म करने में समर्थ होती है। इसके शरीर से निकल जाने पर देह सूख जाती है। अतः इसको 'अंगिरस' उपाधि यथार्थ है। वास्तव में यह सभी अंग उपाङ्गों का रस है, जीवनदाता है, आत्मा है।'

एक देवता ने कहा—"प्राणदेव ने अमर कार्य किया है, इस लिये इन्हें एक उपाधि और देनी चाहिये।"

दूसरे ने पूछा—"तुम्हीं बताओ 'आंगिरस' के अतिरिक्त दूसरी उपाधि कौन-सी दी जाय ?"

तब देवताओं ने विमर्श करके कहा—"इन्हें एक 'दूर' नामक उपाधि और दी जावे।"

एक ने पूछा—"दूर का अर्थ क्या हुआ ?"

दूसरे ने बताया—"जिससे मृत्यु दूर रहे। मृत्यु जिसके पास फटकने भी न पावे। जो अमर हो वही दूर है। जो प्राण की इस व्युत्पत्ति को भली प्रकार जान लेगा वह भी अमर हो जायगा मृत्यु उससे दूर ही रहेगी।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! संग का दोष तो लगता ही है। शव अस्पर्श है, उसे जो छूवेगा उसे ही दोष लगेगा। इसी प्रकार प्राण शरीर में रहता है। उसका वाणी से, श्रोत्र से, चक्षु से, घ्राण से, तथा मन आदि सभी से संसर्ग होता है। सभी को समान भाव से रस पहुँचाता है। ये सब स्वार्थ के कारण पाप विद्ध हैं, तो क्या इन सब के संसर्ग से प्राण को दोष न लगेगा। उसे अशुद्धता स्पर्श न करेगी।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! उत्तम प्रकृति वाले पुरुषों का कुसंग कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकता। देखिये, चन्दन के वृक्ष पर सर्वत्र भुजंग-सर्प-लिपटे रहते हैं। फिर भी चन्दन में विष व्याप्त नहीं होता। उत्तम प्रकृति वाले दूसरों को पावन बना देते हैं जैसे जिस वन में चन्दन का वृक्ष हो, उसकी सुगन्ध से आस पास के सभी वृक्ष सुगन्धमय बन जाते हैं।

प्राण से तो मृत्यु दूर रहते ही हैं, किन्तु प्राणोपासक से भी मृत्यु दूर रहते हैं क्योंकि वह प्राणों के रहस्य को जान गया है।

विषयों के संसर्ग से होने वाली आसक्ति ही मृत्यु है। प्राणाभिमानी जो व्यक्ति है उससे मृत्यु का विरोध है। अतः जिस प्राण से मृत्यु दूर रहती है। उस प्राण से जिसने मित्रता कर ली है। मृत्यु उससे भी दूर ही दूर रहेगी। यही नहीं प्राण के संसर्ग से वागादि सब भी जो पाप विद्ध थे, पावन बनकर मृत्यु से परे पहुँच गये। इनके पाप को इनके शरीरों में से निकालकर दूर फेंक दिया।"

शौनकजी ने पूछा—"इनके शरीरों में से निकाल कर पाप को प्राण ने कहाँ पहुँचा दिया? किधर फेंक दिया?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! पाप विद्ध जो वागादि इन्द्रियाँ हैं, उनके शरीरों में से पाप को निकालकर जहाँ पर इन दिशाओं का अन्त है उस अन्त जन स्थान में पहुँचा दिया।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! दिशायें तो अनन्त हैं, इनका कहीं अन्त ही नहीं होता। फिर दिशाओं के अन्त में पाप को पहुँचा दिया यह कथन उचित प्रतीत नहीं होता?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! यहाँ दिशाओं के अन्त से तात्पर्य श्रौत स्मार्त-वर्णाश्रम धर्म की सीमा के बाहर के समुद्र तटीयादि म्लेच्छ देशों से है। जहाँ के लोग केवल मत्स्यादि जीवों को मार कर ही अपना जीवन निर्वाह करते हैं। वहीं पर प्राण ने वागादि के पाप को तिरस्कार पूर्वक स्थापित कर दिया। इस साधक को चाहिये कि ऐसे सदाचारहीन देशों में न जाय और न धर्महीन दस्यु धर्मी अन्त्यज म्लेच्छों से संसर्ग ही करे। पाप से संश्लिष्ट न हो जाऊँ इस भय से अन्त्यजन के समीप न तो भूलकर जाय ही और जहाँ दिशाओं का अन्त हो—वर्णाश्रम धर्म से हीन की सीमा के म्लेच्छ प्रायः देशों में भी न जाय। प्राणदेव बड़े परोपकारी हैं। इन्होंने देवताओं के पाप रूप मृत्यु को दूर करके इन

सबको मृत्यु से पार पहुँचा दिया। अर्थात् इन्हें विशुद्ध बनाकर अग्न्यादि देव भाव को प्राप्त करा दिया।"

शौनकजी पूछा—"कैसे इन सब को मृत्यु के पार पहुँचाया ?"

सूतजी ने कहा—"जैसे वाग्देवता है, वह असुरों ने पापविद्ध कर दिया था उसे पाप रहित करके मृत्यु के पार पहुँचा दिया। वाग ही निष्पाप होकर अग्निदेव बन गये। अतः अग्नि मृत्यु से परे है। वह मृत्यु का अतिक्रमण करके स्वतन्त्र रूप से देदीप्यमान है।

इसी प्रकार प्राण सञ्ज्ञक प्राण को निष्पाप किया, उसका अतिवहन किया तो वही प्राण विशुद्ध बनकर-मृत्यु के पार होकर वायुदेव बन गया। यह वायुदेव मृत्यु का अतिक्रमण करके-मृत्यु को जीतकर स्वतन्त्र रूप में बहता रहता है।

इसी प्रकार प्राण प्राण ने चक्षु को भी निष्पाप बनाया, उसका भी अतिवहन किया। वही चक्षु पाप रहित होने पर आदित्य देव हो गया, उसने मृत्यु का अतिक्रमण किया, इसीलिये निष्पाप आदित्य देव मृत्यु से परे तपते हैं। मृत्यु को अतिक्रमण करके स्वच्छन्द विचरण करते हैं।"

फिर प्राण ने श्रोत्र को निष्पाप किया उसका अतिवहन किया वही दिशायें हो गयीं, मृत्यु से पार पहुँच गयीं। दिशाओं को मृत्यु छू भी नहीं सकता।

फिर प्राण ने मन को निष्पाप किया उसका अतिवहन किया, वही मृत्यु से पार होने पर विशुद्ध हो जाने पर चन्द्रदेव बन गया। ये मृत्यु का अतिक्रमण करके चन्द्रदेव प्रकाश फैलाते रहते हैं।"

यही देवों की उत्पत्ति का रहस्य है। जो पाप विद्ध रह गयीं

वे इन्द्रियाँ बनी रहीं। जो पाप से परे हो गयी वे मृत्यु की " को पार करके मृत्युजित हो गये, जो साधक इस रहस्य को भली-भाँति जान जाता है, वह भी मृत्यु को पारकर अमर हो जाता है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने प्राणों की श्रेष्ठता और इन्द्रियों की निष्पापता का वर्णन आपसे किया। अ आगे प्राण ने जैसे अन्नाद्य गान किया उस प्रसंग को अ बताऊँगा।"

छप्पय

(१)

अंगनि को रस सार अयास्यहु प्राण आंगिरस।
मृत्यु दूर दुर् नाम वाक अघ पठै अन्त दिशि॥
अन्त्यज अरु दिशि अन्त न जावे पाप न परसे।
देव मृत्यु करि दूरि पार करि अघ बिनु सरसे॥
वाक् देवता अघ रहित, अग्नि भये ते मृत्यु तरि॥
प्राण पाप मिटि वायु बनि, बहै मृत्यु कूँ पार करि।

(२)

मन के धोये पाप चन्द्रमा वही भयो है।
अति क्रान्त वह चन्द्र मृत्यु तै पार गयो है॥
प्राणदेव सब करें पाप तै हीन बनाये।
ह्वैकें वे निष्पाप मृत्यु—पर देव कहाये॥
जा विद्या को जानि कैं, प्रेम सहित हिय में धरै।
वह साधक हू अमर बनि, पार मृत्यु पापहिं तरै॥

प्राणोपासना (३)

[२०२]

अथात्मनेऽन्नाद्यमागायद्यद्धि किञ्चान्नमद्यतेऽनेनैव तदद्यत इह प्रतितिष्ठति ॥*

(बृ० उ० १ अ० ३ ब्रा० १७ म०)

छप्पय

पुनि निज हित अन्नाद्य गान प्राण हु ने कीन्हों ।
अन्न प्राण ही खात प्रतिष्ठित प्राणहि चीन्हों ॥
सुरनि याचना करी तिनहिँ निज तनहिँ बिठायो ।
सुर प्रवेश करि गये खाय सब तृप्त करायो ॥
प्राण रहसकूँ जानिकेँ, पोषण सब जनको करै ।
आश्रित पोषण जे करैँ, प्राण नियम ते हिय धरै ॥

कुछ तो सार्वजनिक सम्पत्ति के पदार्थ होते हैं। जैसे वृक्षों के फल है, नदी का जल है, उसका उपभोग सार्वजनिक रूप में सब करते हैं, हम भी सबके साथ उसका उपभोग करते हैं। किन्तु

---

* वाक्, प्राण (घ्राण), चक्षु, श्रोत्र और मन से विशिष्ट जो प्राण है, उन तीन पवमानों में समस्त प्राणों के निमित्त प्राजापत्य रूप फल का आगान किया था। फिर जैसे वागादि इन्द्रियों ने अपने लिये आगान किया वैसे ही मुख्य प्राण ने भी अपने लिये अन्नाद्य-आदि भक्ष्य-अन्न-का आगान किया। कारण कि प्राण द्वारा ही सब कुछ खाद्य पदार्थ खाये जाते हैं और उस अन्न मे भी प्रतिष्ठित रहते हैं।

किसी हमारे विशेष गुण के कारण हमें व्यक्तिगत पुरस्कार प्राप्त हो, तो उस पर हमारा सर्वभाव से पूर्ण अधिकार है, किन्तु श्रेष्ठ पुरुष उस व्यक्तिगत सम्पत्ति का भी उपभोग वे अकेले नहीं करते। अपने आश्रित पुरुषों के साथ अपने सगे सम्बन्धी इष्ट मित्र तथा परिवार के लोगों के साथ उसका उपभोग करते हैं, तो यही महानता है।

दो भाई एक ही सम्मिलित परिवार में साथ-ही-साथ रहते थे। दोनों के बच्चे थे। सम्मिलित परिवार का जो मुखिया होता है वह अपने बच्चों में तथा भाइयों के बच्चों में किसी भी प्रकार का भेद भाव नहीं रखता। बच्चे तो सब समान ही हैं। जो वस्तु वह लावेगा, सभी बच्चों में समान भाव से वितरित करेगा। बच्चों का यह स्वभाव होता है, अपने दूसरे भाई की वस्तु में विशेषता देखेंगे, तो वे भी वैसी ही वस्तु पाने को आग्रह करेंगे। अतः सम्मिलित परिवार के मुखिया को सदा सर्वदा सचेष्ट रहना पड़ता है, मन से भी वह अपने और भाई के बच्चों में भेद भाव नहीं लाता। तभी सम्मिलित परिवार चलता है। जहाँ घर की स्त्रियों में या परिवार के प्रधान के मन में तनिक भी अपनेपन, परायेपन का भाव आया वहीं सम्मिलित परिवार छिन्न-भिन्न हो जाता है।

एक दिन बड़ा भाई दो फल लेकर आया। उसे फल लाते देखकर उसका लड़का और भाई का लड़का दोनों ही फल लेने दौड़े। उसके बायें हाथ में बड़ा फल था दायें हाथ में छोटा। भाई का लड़का दाईं ओर से दौड़कर आया और उसका लड़का बाईं ओर से आया। उसके मन में अपना परायापन आ गया। मेरे लड़के को बड़ा फल मिल जाय, भाई के को छोटा इस विचार से बाँये हाथ को दाईं ओर कर दिया, दाँये हाथ को बाँयी ओर कर दिया। यदि वह स्वाभाविक अवस्था में रहता तो बड़ा जिस

ओर के हाथ के सम्मुख आ गया उसे उसी हाथ का फल दे देता तो भाई के लड़के को बड़ा फल मिल जाता, अपने को छोटा मिलता। किन्तु उसने अस्वाभाविक वर्ताव किया। मेरे बच्चे को बड़ा मिले इसलिये उसने विपर्यय हाथ कर दिये। बच्चे तो इस रहस्य को समझे नहीं। वे तो जो पाया उसी को लेकर प्रसन्नता पूर्वक भाग गये, किन्तु उसका छोटा भाई इसे देख रहा था। वह नम्रता पूर्वक अपने भाई से बोला—"भैयाजी ! हम अब पृथक् होना चाहते हैं, हमारा बँटवारा कर दीजिये।"

बड़े भाई ने आश्चर्य चकित होकर पूछा—"क्यों-क्यों क्या बात हो गयी ?"

छोटे भाई ने कहा—"जब परिवार के मुखिया के मन में अपना परायेपन का भाव आ जाय, तो सम्मिलित परिवार नहीं चल सकता।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! साम के तीन पवमान स्तोत्रों में तो समस्त प्राणों के लिये प्राजापत्य रूप का आगान है। शेष जो नौ पवमान स्तोत्र हैं, उनमें मुख्य प्राण ने अपने लिये अन्नाद्य का-भक्षण करने योग्य अन्न का-आगान किया।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! अपने लिये शुभ का आगान करने से तो वाक्, श्रोत्र, चक्षु तथा मन आदि पाप बिद्ध हो गये, तो फिर यह मुख्य प्राण अपने लिये नौ स्तोत्रों से अन्नाद्य का आगान करने से पाप बिद्ध क्यों नहीं हुए ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! अपने लिये आगान करने का सबका स्वत्व था, अधिकार था। अधिकार के लिये प्रयत्न करना पाप नहीं। पाप तो यह है जो प्राप्य वस्तु को केवल अपने ही स्वार्थ में लगावे। जो प्राप्त वस्तु को भी समान भाव से सम्मिलित परिवार में सबके साथ बाँटकर उपयोग करता है वह कभी भी पाप

विद्ध नहीं हो सकता। अन्य इन्द्रियों के समान प्राण अपने शुभ भाग का भी उपभोग सभी देवों के साथ करते हैं, अतः वे पाप विद्ध नहीं होते मुख द्वारा जो अन्न खाया जाता है, वह प्राण के ही द्वारा तो खाया जाता है, भूख लगना प्राणों का ही तो धर्म है। अन्न का अर्थ भी प्राण ही है। क्योंकि अन्न अन् प्राण ते धातु से बनता है इसलिये अन्न में प्राण प्रतिष्ठित होता है।"

तो भक्ष्य अन्न का आगान करने से प्राण को खाने योग्य समस्त अन्न की प्राप्ति हो गयी। तब तो वाग् देवता आदि सभी देवगण घबड़ाये। उन्होंने सोचा—"समस्त भक्षण करने योग्य अन्न को प्राण ही खा जायगा, तो हम सब तो भूखे ही मर जायँगे। अतः कुछ अन्न की प्राण से चलकर याचना करनी चाहिये। यही सोचकर समस्त देवगण प्राण के समीप पहुँचे और उससे कहने लगे—"हे प्राणदेव! आपने जो आगान द्वारा भक्ष्य अन्न को प्राप्त कर लिया है वह समस्त अन्न तो इतना ही है। यदि आप ही समस्त अन्न का भक्षण कर जाओगे, तो फिर हम क्या खायँगे? हम भूखों ही मर जायँगे क्या? इसलिये भाईजी! ऐसा मत करो। अब पीछे से हमें भी इस अन्न में भागीदार बना लो। कुछ अन्न इसमें से हमें भी दे दो, जिससे हम भी खाकर अपना निर्वाह कर सकें।"

देवताओं की यह बात सुनकर प्राण ने कहा—"देखो, भाई, पृथक्-पृथक् बटवारा करके कोई सुखी नहीं होता। यदि सब एक ही में सम्मिलित होकर रहें, तो सम्मिलित परिवार सुखी रहता है। सबके दुःख-सुख पूरे परिवार में बँट जाते हैं। एक के सुख में पूरा परिवार सुखी होता है, एक के दुःख में पूरा परिवार सहानुभूति प्रकट करता है, अतः एक काम करो तुम लोग सब ओर से मेरे शरीर में प्रवेश कर जाओ।"

यह प्रस्ताव सभी देवो को अच्छा लगा उन्होने इसे स्वीकार किया और वे सब-के-सब, सब ओर से प्राण में प्रवेश कर गये। अब सबका एक सम्मिलित परिवार हो गया। प्राण उस परिवार के सर्वश्रेष्ठ मुखिया हुए। तभी से प्राण के द्वारा पुरुष जो अन्न खाता है, उससे प्राणों के साथ ये समस्त देव समान भाव से तृप्त होते हैं।

यही प्राण के सर्वश्रेष्ठत्व होने का रहस्य है जो उपासक इस रहस्य को भली भाँति जानता है उसका उसके ज्ञाति वाले परिवार वाले सभी ओर से आश्रय ग्रहण करते हैं, ऐसा साधक अपने समस्त स्वजनों का भरण पोषण करने वाला होता है। वह अपने समस्त सम्मिलित परिवार मे सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है। वह उनका नेता अग्रगामी तथा पथप्रदर्शक होता है। वह अन्न को भक्षण करके उसे भली-भाँति पचाने वाला होता है, सभी लोग उसे अपना अधिपति मानते हैं।

उन सम्मिलित परिवार के ज्ञातिजनों में से जो भी उसके प्रति प्रतिकूल आचरण करता है, उसके प्रतिकूल होना चाहता है, वह अपने आश्रितों के पालन-पोषण मे सदा असमर्थ ही बना रहता है। इसके विपरीत ऐसे उपासक साधक के जो अनुकूल रहता है, उसके अनुकूल आचरण करता है, वह अपने आश्रितों का चाहने पर भरण-पोषण करने मे समर्थ होता है। वह अवश्य ही अपने आश्रितों का भरण-पोषण कर सकता है। यही प्राणों का श्रेष्ठत्व है, यही प्राणों का आम्नाय है और यही अन्नाद्य-रूप अन्न को प्राप्त करके उसे परिवार के साथ उपभोग करने का फल भी है। प्राण के अयास्य, दूर अङ्गिरस, बृहस्पति तथा ब्रह्मणस्पति आदि-आदि नाम हैं।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! प्राण का अयास्य न क्यों है ?"

सूतजी ने कहा—"आस्य मुख का नाम है। मुख के भी जो आकाश है, उसी में यह रहता है, इसलिये इसे अयास्य क हैं। (आस्ये–मुखे य आकाशस्तस्मिन्–अन्तरयं प्रत्यच्चो व इति=अयास्यः)।"

शौनकजी ने पूछा—"प्राण का दूर् नाम क्यों है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! इस प्राण देवता से मृत्यु द रहती है आसक्ति रूप पाप इससे परे रहते हैं। इसीलिये इस दूर् कहते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! इसका नाम आङ्गिर क्यों है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! यह बात तो पीछे ही बतायी ज चुकी है, कि यह शरीर के समस्त अङ्गों का रस–सार–है। इसी लिये इसका नाम आङ्गिरस प्रसिद्ध है। शरीर के अङ्ग इस प्राण रूप रस से बढ़ते हैं पुष्ट होते हैं। जिस अङ्ग से प्राण निकल जाता है वहाँ रस नहीं पहुँचता, वह सूख जाता है। रस के बिन अङ्गों की परिपुष्टि कैसे हो सकती है ?"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! इस प्राण का बृहस्पति नाम क्यों है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! वाक् ही बृहती है। उसका यह पति है। वैदिक छन्दों में बृहती छन्द सबसे बड़ी ३६ अक्षरों का छन्द है उसका यह पति है। बृहती अर्थात् वाणी का पालन प्राण से ही होता है। निष्प्राण व्यक्ति बोल नहीं सकता। यह प्राण बृहती आदि सभी छन्दों का पति है, प्राण है, आत्मा है। इसी लिये इसे बृहस्पति कहते हैं। अर्थात् ऋग् वेद का पति है।"

शौनकजी ने पूछा—"प्राण का ब्रह्मणस्पति नाम क्यों है ?"

सूतजी ने कहा—"वाक् ही ब्रह्म है। ब्रह्म अर्थात् यजुर्वेद है। यह उसका पति है, अर्थात् यजुर्वेद का यह प्राण पति है।"

शौनकजी ने कहा—"ब्रहस्पति और ब्रह्मणस्पति से ऋक् और यजुर्वेद का तो स्वामी हो गया। अब वेदत्रयी में से सामवेद ही बचा क्या यह प्राण सामवेद का पति नहीं है ?"

सूतजी ने कहा—"है क्यों नहीं ब्रह्मन्! भगवती श्रुति स्वयं ही कह रही है, कि यही प्राण साम भी है। साम क्यों है ? इस विषय मे बताते हैं कि साम में सा+और अम दो शब्द हैं इनमें से, सा तो वाक्–वाणी का वाचक है और अम यह प्राण वाचक है। सा और अम मिलकर ही साम बनता है। यही साम का सामत्व है। अर्थात् साम सर्वमय है और प्राण भी सर्वमय हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"साम सर्वमय कैसे है ?"

सूतजी ने कहा—"सा+अर्थात् वाणी–यह सा समस्त स्त्रीलिंगवाची वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करता है और अम+यह प्राण है। यह समस्त पुलिङ्गवाची शब्दों का प्रतिनिधित्व करता है। प्राण स्त्रीलिङ्गवाची, पुलिङ्गवाची सभी संज्ञाओं में सभी में विद्यमान है। अतः साम ही प्राण है। वाणी से ही प्राण द्वारा साम का गायन होता है। वाणी न हो तो साम गायन नहीं हो सकता। प्राण बिना भी वाणी गायन करने मे असमर्थ है।"

सम से भी साम बनता है। अर्थात् यह सभी देहों में देह के समान ही-सर्वव्यापक बनकर रहता है। जैसे एक छोटी मक्खी है, उस मक्खी के शरीर में प्राण उसी के शरीर के समान होकर रहेगा। मच्छर है, मच्छर के शरीर में प्राण मच्छर के शरीर के समान ही होकर उसी के आकार का छोटा होकर रहेगा। और बड़े डील-डौल का हाथी है, तो प्राण उसी के आकर का बडा बनकर

रहेगा। मक्खी, मच्छर तथा हाथी के शरीरों में कोई ऐसा स्थान नहीं जहाँ प्राण न हो, जिस अङ्ग में प्राण का संचार न हो होगा, वह अङ्ग व्यर्थ बन जायगा। अतः जितनी भी देहें हैं, प्राण समान भाव से उन्हीं के समान होकर रहता है। त्रिलोकी में, त्रिलोकी के समान बनकर रहेगा। भूलोक में, भू के समान भुवर्लोक में, भुव के समान स्वर्लोक में, स्वर्गों के समान अर्थात सभी में उनके समान रूप रखकर ही यह साम कहलाता है।

जो साधक साम के इस सामत्व भाव को भलीभाँति जान लेता है। वह प्राणों के साथ सायुज्य-अर्थात् एकता प्राप्त करता है उसका अपनत्व और प्राणों का अपनत्व एक ही हो जाता है। अथवा प्राणों के साथ सालोकता प्राप्त करता है। अर्थात् जिस लोक में प्राण रहता है उसी लोक में भावना से प्राणोपासक भी रहता है। यह प्राण को साम रूप से-समान भाव से सबमें रहने वाला-जानने का फल है।

सामवेद का ऋत्विज् उद्गाता जो उद्गीथ गायन करता है। वह उद्गीथ भी और कुछ नहीं है, प्राण का ही नाम उद्गीथ है।

शौनकजी पूछा—"सूतजी! उद्गीथ तो सामवेद की अवयव भूता भक्ति को कहते हैं। सामवेद की ऋचाओं का उच्चस्वर से भक्ति पूर्वक गायन का ही नाम उद्गीथ है। आप प्राण को उद्गीथ कैसे बता रहे हैं?"

तब सूतजी ने कहा—ब्रह्मन्! भगवती श्रुति ही उद्गीथ की प्राण परक व्याख्या करती है। उद्गीथ में दो शब्द हैं उत्+और गीथ-गीता या गीथा। उत् ही प्राण है। उत् का अर्थ हुआ उत्तब्ध अर्थात् धारण किया हुआ। समस्त चराचर जगत् को प्राण ही तो धारण किये हुए हैं इसीलिये प्राण ही उत् है। अब गीथा यहाँ वाक् का वाचक है। वाणी के ही द्वारा गीत गाये

ाते हैं। वाणी न हो तो साम के गीत कैसे गाये जायँ। वाणी ीर प्राण एक ही हैं। अतः वही प्राण उत् भी है और गीथा ी है। इसलिये प्राण का ही उद्गीथ सञ्ज्ञा है।

वाणी और प्राण दोनों मिल हुए ही उद्गीथ हैं। इस विषय एक दृष्टान्त के रूप मे गाथा कहते हैं। पहिले यज्ञों मे एक ोमपान पर्व होता था। सोम नाम की एक लता बल्ली हुआ रता था। वैसे उसके २४ भेद बताये हे। सोमलता में १५ ही त्ते होते हैं। अमावास्या को उसम एक भा पत्ता नहीं रहता, फिर शुक्ल पक्ष मे चन्द्रमा की कला के साथ प्रतिपदा को एक त्ता, द्वितीया को दो पत्ते, ऐसे पूर्णिमा को पन्द्रह पत्ते हो जाते । फिर कृष्ण पक्ष में एक एक पत्ता गिरता जाता हे और ामावास्या को वह पत्रहीन हो जाती है। इस सोमलता को सके विशेषज्ञ शास्त्रीय विधि से पुण्य तिथि को लाकर कूटते । उसका रस निकालकर पहिले देवताओं को सोमरस का ान कराते थे, पीछे बचे हुए रस को प्रसाद के रूप मे यजमान था ऋत्विगण पीते थे। उसके पीने से दश सहस्र वर्ष की आयु ाती थी। एक प्रकार से देवत्व ही प्राप्त हो जाता था। अब तो ामलता दुर्लभ हो गयी है। वैसे ऊँची पर्वतों पर तारागों में ेना वो अब भी होगी, किन्तु लिखा है, जो अधर्मी कृतघ्नी, ु द्रोही, औषधि द्रोह, तथा ब्राह्मण द्रोही पुरुष हैं, उन्हें यह ामलता दिखायी ही नहीं देती।

इस कलिकाल में सविधि यज्ञ भी नहीं होते, शुद्ध यज्ञ करने राने वाले भी नहीं मिलते। फिर सोमलता कहाँ मिलेगी ? ामलता के बिना सोम रस कैसे बन सकता है।

जिस समय इस देश में वेद विधि से यज्ञयाग होते थे, और ज्ञों में वेद मन्त्रों के साथ सोमरस का पान किया जाता था, उसी

समय का यह दृष्टान्त है। एक चिकितान नामक ऋषि थे
पुत्र चैकितायन हुए उनके पुत्र ब्रह्मदत्त नाम के थे।
ब्रह्मदत्त ने किसी यज्ञ में सोमरस का पान करते हुए इस प्र
की एक शपथ ली थी। "अयास्य और आङ्गिरस नाम व
मुख्य प्राण है। उस मुख्य प्राण ने वाणी संयुक्त प्राण के अति
देवता द्वारा साम का उद्गायन किया हो, तो यह सोम मेरा
गिरा दे।" इस शपथ से ही सिद्ध होता है कि मुख्य प्राण वे
के बिना अन्य देवता में दृष्टि करके जो उद्गीथ का उद्गा
करता हुआ सोमपान करता है उसका सिर धड़ से पृथक्
जाता है। इन सोमदत्तजी ने यही मानकर सोमपान किया
कि वाणी संयुक्त मुख्य प्राण ने ही उद्गायन किया। इससे उन
सिर धड़ से पृथक् नहीं हुआ। अतः प्राण ही उद्गीथ है। इस
लिये ब्रह्मदत्त ने प्राण तथा वाक् के ही द्वारा उद्गान किया था।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! इस प्रकार प्राण के उद्गीथ
का मैंने वर्णन किया अब प्राण ही साम है और उस साम
स्वभूत स्वर को कैसे सम्पादन करना चाहिये तथा साम सम्बन्धी
अन्य बातों का वर्णन मैं आगे करूँगा और प्राणोपासना के लिये
भगवती श्रुति ने जिन मन्त्रों के जप का विधान बताया है उसे भी
मैं आगे कहूँगा। आशा है आप इसे ध्यान पूर्वक श्रवण करेंगे।

छप्पय

यही आङ्गिरस प्राण अयास्य हु अङ्गनि रस है।
यही बृहस्पति यजुर्वेद सब मन्त्रनि पति है॥
यही ब्रह्मणस्पतिहु वेद ऋक् को स्वामी यह।
यही साम सम रहे माखि मच्छर हाथी महँ॥
यही प्राण उद्गीथ है, गान साम को यह करै।
यही व्याप्त त्रिभुवन सतत, यही भाव भुवननि भरै॥

प्राणोपासना (४)

[२०३]

तस्य हैतस्य साम्नो यः सुवर्णं वेद भवति हास्य सुवर्णं तस्य वै स्वर एव सुवर्णं भवति हास्य सुवर्णं य एवमेतत्साम्नः सुवर्णं वेद ॥*

(बृ० उ० १ अ० ३ ब्रा० २६ मं०)

छप्पय

स्वर सुवर्ण स्वर प्राण सबहिँ स्वर धनहिँ सरायें।
स्वर अभिलाषा करो सुरीले सबकूँ भाएँ॥
साम सुवर्ण कहाय जानि सो सोनों लावै।
स्वर सुवर्ण कूँ मानि सुरीलो सुवरन पावै॥
साम प्रतिष्ठा जानि कें, होहि प्रतिष्ठित जगत में।
गावे वाणी प्राण सह, अपर बतावें अन्न में॥

वाणी और प्राण का तादात्म्य है। प्राणवान् में ही वाणी ...त होगी। अथवा प्राणवान् वाणी ही जड़ वस्तु के माध्यम ...ण की जा सकेगी। निष्प्राण में वाणी नहीं, गायन नहीं। ...ा आकर्षण वाणी में है उतना आकर्षण किसी में नहीं।

---

* जो सामवेद के सुवर्ण रहस्य को जानता है उसको सुवर्ण की ...होती है। सुवर्ण उसका स्वर ही है जो साम के सुवर्ण रहस्य को ...नि जानता है, उसे सुवर्ण की प्राप्ति होती है।

अच्छा वक्ता सबको अपने पक्ष में कर सकता है। अच्छा गा
सबके मन को मुग्ध करके अधिक द्रव्य कमा सकता है। वाणी
ही प्रभाव से अधिवक्ता अपार धन कमाते हैं। वाणी के ही
सुप्रसिद्ध गायक देश विदेशों में सम्मान तथा धन प्राप्त क
हैं। जिनकी वाणी में ओज है, तेज है, मधुरिमा है, मिठास
वह वाणी हृदयस्पर्शी प्राणवान् मानी जाती है। जिस वाणी
ओज नहीं, तेज नहीं, माधुर्य नहीं, आकर्षण नहीं, वह वा
निष्प्राण है अतः प्राणवान् वाणी, सशक्त वाणी मनोकामना
में साधिका हो सकेगी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मुख्य प्राण के दूर, अङ्गिरा
बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति उद्गीथ तथा साम नामों की उपपत्ति
कर अब इस तीन गुणात्मक नामों 'स्व' 'सुवर्ण' और प्रतिष्ठा
फल और बताते हैं। मुख्य प्राण का एक गुणात्मक नाम '
भी है। स्व का अर्थ है धन। वास्तव में धन प्राण ही है।
को लोग पण में—शर्त में—लगाते हैं। जब किसी बड़े काम
लौकिक धन को न लगाकर लोग प्राणों का ही पण लगा देते
तो लोग कहते हैं—इस काम को मैंने प्राणों का पण लगा
किया।" अर्थात् उस काम पर मैंने अपना सर्वस्व निछावर
दिया। अतः स्व का अर्थ हुआ सर्वश्रेष्ठ धन। किन्तु मा
श्रुति कहती है स्वर ही प्राण का धन है। अतः स्व के स्वर
अर्थ को जो जानता है उसे धन की प्राप्ति होती है। देखो,
यज्ञ यागादि कराने वाले ऋत्विजों को चाहिये, कि अपनी वा
में सुस्वर की मधुरता की इच्छा करे। वैसे तो गेना गाना स
पर आता है। सभी स्वर में बेसुर में रो गा लेते हैं। किन्तु
सस्वर रोते हैं सस्वर गाते हैं, वे सर्वत्र आदर पाते हैं।
ऋत्विक कर्म करने वाले वैदिक कर्मकाण्डी पंडितों को

स्वर की इच्छा करनी चाहिये। उसे मधुर स्वर से सम्पन्न होकर यज्ञ के ऋत्विज् का कर्म करना चाहिये अर्थात् सस्वर मधुर वाणी में वेद मन्त्रों का गायन करे। जो ऋत्विज् मधुर स्वर में वेद मंत्रों का सस्वर गायन करता है। उसकी सभी लोग प्रशंसा करते हैं, यज्ञों में इसी से स्वरवान् उद्गाता को सभी लोग देखने की इच्छा करते हैं। क्योंकि उद्गाता का धन तो स्वर है। वैसे साधारण रूप में स्व का अर्थ धन ही लो, तो भी लोक में जो धनी पुरुष होते हैं, उनका सभी लोग आदर करते हैं। कोई धनवान् पुरुष आ जाता है, तो उसे लोग देखने दौड़े आते हैं। धनवान् को सभी देखना चाहते हैं। यही इस प्राणरूप नाम का स्वत्व है-धनत्व है-जो साधक-उपासक-इस भाँति इस साम के धन को जानता है। उसे स्व की-धन की-सुन्दर मधुर वाणी की-प्राप्ति होती है। यह इस स्वत्व को जानने का फल है।

अब प्राण का एक गुणात्मक नाम सुवर्ण भी है। जो पुरुष इस मुख्य प्राण रूप साम के सुवर्ण को जानता है उसे सुवर्ण की प्राप्ति होती है। पीछे तो स्व शब्द का अर्थ स्वर बताया। यहाँ सुवर्ण का अर्थ वर्णों के उच्चारण को भली-भाँति जानना। पीछे तो सुरीले कंठ से तात्पर्य था। यहाँ सुन्दर स्पष्ट सुसंस्कृत वर्ण उच्चारण से तात्पर्य है। एक वाणी ही मनुष्य को अलंकृत करती है। वह वाणी कैसी हो सुसंस्कृत हो-शुद्ध हो-प्रत्येक वर्ण का जिस देश से उच्चारण करना चाहिये उसी देश से उच्चारण करे। जैसे अ, वर्ण, क वर्ग के सब वर्ण और हकार वर्ण ये कंठ से उच्चारण करने के हैं तो इन्हें वहीं से उच्चारण करे, स्पष्ट शुद्ध उच्चारण करे। ह्रस्व को ह्रस्व और दीर्घ प्लुत को दीर्घ प्लुत उच्चारण करे यही वाणी का सुवर्णत्व है। स्वर ही सुवर्ण है। जो साधक इस प्रकार वाणी

संश्लिष्ट मुख्य प्राण रूप साम के सुवर्ण को जानता है, उसे सुवर्ण प्राप्त होता है।

वाणी संश्लिष्ट मुख्य प्राण रूप साम का एक गुणात्मक नाम प्रतिष्ठा भी है। जो उसकी प्रतिष्ठा को भली भाँति जानता है वह प्रतिष्ठित पुरुष हो जाता है। प्रतिष्ठा क्या है ? वाणी ही प्रतिष्ठा है। वाणी में प्रतिष्ठित हुआ ही यह प्राण गाया जाता है। वाणी में प्राण न हो, तो निष्प्राण वाणी क्या गान करेगी ? किन्हीं-किन्हीं आचार्यों का मत है, कि यह अन्न में प्रतिष्ठित होकर गाया जाता है। यदि अन्न को खाकर वाणी बलिष्ट न हो तो भली भाँति वाणी से गाया ही न जायगा। कैसा भी स्वर मधुर निर्मल हो, उद्गमता भूखा हो, उसे अन्न न मिला हो, तो वह गा नहीं सकता। अतः वाणी की प्रतिष्ठा अन्न है। यही भी सत्य ही है। प्राण भी अन्नमय ही है। एक ही बात हुई।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार यह प्राणों का महत्व बढ़ाने वाली प्राणोपासना कही। अब जो प्राणोपासक है, उसके लिये जिन मन्त्रों के जप का विधान है उसे भगवती श्रुति बताती है। जो प्राण की उपासना करने वाला पुरुष है उसे अभ्यारोह मन्त्रों का उचित काल में-मन्त्रों का अर्थ जानकर प्रयोग करना चाहिये। जिन मन्त्रों के जप के द्वारा उपासक ब्रह्मलोक को प्राप्त हो सके उन मंत्रो को अभ्यारोह कहते हैं। वेद में तीन पवमानों को ब्रह्मलोक के अभ्यारोह का-प्राप्त होने का-कारण बताया है। उन तीन पवमानों का नाम बहिष्पवमान, मध्यंदिन पवमान और आर्भ पवमान है। ब्रह्मलोक की प्राप्ति के निमित्त ये गाये जाते हैं। यज्ञों में जो सामवेद का गायन करता है वह प्रस्तोता ऋत्विज जिस समय साम गान का प्रस्ताव करे। साम गायन आरम्भ करे, उसके पूर्व यजुर्वेद के तीन मंत्रों को जपे।

अर्थात् उन्हें सस्वर उच्चारण करे। वे तीन मत्र कौन-कौन से हैं ? पहिला तो है 'असतो मा सद्गमय' दूसरा है 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' और तीसरा है 'मृत्योर्मामृत गमय।' इन तीनों का अर्थ भगवती श्रुति स्वय ही बताती है। पहिले मत्र में कहा गया है, 'मुझे असत् से सत् की ओर ले जाओ।" तो इसमें असत् का अर्थ मृत्यु है, और सत् का अर्थ अमृत है। अर्थात् मैं जो असत्—मृत्यु की ओर जा रहा हूँ, उस मुझको मृत्यु की ओर से खींचकर अमृतत्व की ओर ले जाओ। भाव यह हुआ कि मुझे मर्त्यधर्मी न रहकर अमर बना दो। दूसरे म ा का अर्थ है—"मुझे तम से—अधकार से-ज्योति की ओर-प्रकाश की ओर-ले जाओ।" यहाँ तम का अर्थ भी मृत्यु ही है और ज्योति का अर्थ अमृत है। अर्थात् मुझे मृत्यु मार्ग से हटाकर अमृत मार्ग की ओर मोड दो। भाव वही हुआ मुझे अमर बना दो। अब तीसरे का अर्थ स्पष्ठ ही है। उस पर टीका टिप्पणी भाष्य की तो आवश्यकता ही नहीं उसमे तो स्पष्ट ही कहा है मुझे मृत्यु की ओर से अमृत की ले जाओ अर्थात् मुझे अमर बना दो। इस प्रकार सामवेद के गायक प्रस्तोता को सामगायन के प्रस्ताव के पूर्व इन तीन मन्त्रों को जप करके इसके पीछे जो अन्यान्य स्तोत्र हैं। अर्थात् वहि-ष्पवमान, माध्यदिन पवमान और आर्भपवमान के आज्यादि नौ स्तोत्र स्तव हैं उनका गान करे। उनसे अपने लिये भक्ष्य अन्न की प्रार्थना करे। क्योंकि ऐसा उद्गाता प्राण के रहस्य को भली भाँति जानता है। उस प्राण की महिमा को जानने वाला ऋत्विज अपने लिये अथवा यजमान के लिये जिस जिस वस्तु की कामना करता है, वह वह वस्तु अवश्य ही प्राप्त हो जाती है। अपने उद्-गान द्वारा अपनी या यजमान की कामनाओं को परिपूर्ण करने में समर्थ होता है। यह प्राण वेदन ब्रह्मलोक प्राप्ति का साधन है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! प्राणोपासना के जप का विधान बताकर अब भगवती श्रुति इसके फल का वर्णन करती हुई कह रही है—यह प्राण दर्शन विद्या ब्रह्मलोक की प्राप्ति का साधन है। जो इस विद्या को भली भाँति जानता है, उसे ब्रह्म लोक की प्राप्ति न हो यह संभव ही नहीं। अर्थात् जो साधक उपासक-इस विद्या को इसी प्रकार जानता है उसे ब्रह्मलोक की प्राप्ति अवश्य ही हो जायगी। इसमें अणु मात्र भी सन्देह नहीं।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार मैंने फल सहित यह प्राणोपासना आप से कही। अब आगे ब्रह्म की सर्व रूपता का वर्णन आपके सम्मुख किया जायगा।"

छप्पय

प्रस्तोता प्रस्ताव साम को करै सु-निर्भय।
असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्मामृतंगमय मृत्यु तैं अमर बनाओ।
करै गान अबाध भोग इच्छित सब पाओ॥
प्राणोपासक जानि सब, उद्गाता गायन करै।
निज यजमानहु भोग सब, पावै भय भव तैं तरै॥

इति छांदोग्य उपनिषद के प्रथम अध्याय में तृतीय उद्गीथ ब्राह्मण समाप्त।

ब्रह्म की पूर्णरूपता (१)

[२०४]

सोऽबिभेत्तस्मादेकाकी बिभेति स हाय मीक्षां चक्रे
यन्मदन्यन्नास्ति कस्मान्नु बिभेमीति तत एवास्य भयं
वीयाय कस्माद्ध्यभेष्यद् द्वितीयाद् वै भय भवति ॥*

(बृ० उ० द० ४ ब्रा २ म०)

छप्पय

आत्मा पुरुषाकार प्रथम एकहि दूजो नाहिँ।
अहमस्मीतिहु कह्यो कहैं अब तक मैं हू कहिँ॥
पाप दग्ध करि पुरुष कहायो दग्ध अहङ्कारि।
भयो प्रथम भयभीत अकेलो नर तातेँ हारि॥
सोच्यो जब हौं अकेलो, तो डरको का पात है।
भय छूट्यो क्यों भय भयो? भय दूसर तेँ होत है॥

सृष्टि और उसके समस्त कार्य द्वैत में ही हैं। सृष्टि रमण से,

---

* पहिले यह पुरुषाकार आत्मा अकेला ही था। आसपास किसी को न देखकर वह भयभीत हो गया। इसीलिये सब लोग एकाकी होने पर डरते हैं। फिर उसने सोचा—"अब तो दूसरे से ही हुआ करता है जब मेरे अतिरिक्त कोई दूसरा है ही नहीं, तो मैं क्यों डरूं? इस विचार से उसका डर जाता रहा। किन्तु वह भयभीत हुआ ही क्यों? दूसरे से ही भय होता है।"

क्रीड़ा से, कामना से होती है। रमण एकाकी नहीं होता। क्रीड़ा बिना उपकरण के नहीं होती। कामना या इच्छा की पूर्ति के निमित्त सहायक सामग्री आवश्यक होती है। यह सृष्टि क्या है? भगवान् की क्रीड़ा है मनोरञ्जन है। कभी तो इच्छा होती है, बहुतों के साथ मिलकर खेलें। कभी ऐसी भी इच्छा होती है, एकान्त में चुपचाप-शान्तभाव से--बैठे रहें। बैठे-बैठे भी जब ऊब आने लगती है, तब फिर इच्छा होती है, बहुत होकर खेलें। भगवान् की इच्छा से ही सृष्टि होती है, वे ही स्वयं सृष्टि की सामग्री जुटाकर सृष्टि कराते हैं, उस करायी हुई सृष्टि का स्वयं ही पालन-पोषण करते हैं। फिर जब एकाकी रहने की इच्छा होती है, तो सब को समेटकर उदरस्थ कर लेते हैं, अकेले रह जाते हैं। फिर भीतर भरी सामग्री कुलबुलाने लगती है। काल शक्ति पूछती है, यह एकाकीपन कब तक रहेगा? मानों काल शक्ति पुनः सृष्टि के लिये प्रेरित करती है। तब क्रिया शक्ति आकर खड़ी हो जाती है, क्या आज्ञा है मेरे लिये? ये सब शक्तियाँ उसी की प्रेरणा से भीतर प्रसुप्त पड़ी रहती हैं, कहीं बाहर से थोड़े ही आती हैं। समय पर उठकर बैठ जाती हैं। काल उन्हें यथा समय जगा देता है। काल कहाँ से आ जाता है? देखो, तुम व्यर्थ के प्रश्न मत किया करो। कह तो दिया। उसके अतिरिक्त न कोई देश है, न स्थान है, न व्यक्ति है। सब कुछ उन्हीं के भीतर हैं। समस्त शक्तियाँ उन्हीं के भीतर रहती हैं। काल भी वहीं बैठा पोरुओं पर कुछ गिनता रहता है। काल स्वरूप वे ही हैं। काल स्वरूप ही क्यों सर्व स्वरूप वे ही हैं।

हाँ तो इस वर्तमान सृष्टि से पूर्व कुछ नहीं था, समस्त आत्माओं के आत्मा वे ही एकमात्र प्रभु परमात्मा थे। उनके अतिरिक्त कुछ नहीं था।

जब तुम कहते हो, समस्त आत्माओं के आत्मा तो इसका अर्थ है, बहुत-सी आत्मायें होंगी उन आत्माओं के ये अधीश्वर होंगे ? फिर अकेले कहाँ रहे ?

अरे, भाई जो जिसके अधीन हैं–अन्तर्गत हैं–उनकी गणना पृथक् नहीं हुआ करती। जैसे बहुत भारी सेना, सामन्त, मन्त्री, पुरोहित, रानी राजकुमार सेवकादिकों को साथ लिये एक बहुत से मानवों का समूह आ रहा हो, तो सब यही कहेंगे–'राजा आ रहा है' सबके नाम पृथक् पृथक् नहीं गिनायेंगे। क्योंकि राजकुमार, रानी, मन्त्री, पुरोहित, सेनापति सेना सब राजा के ही अन्तर्गत है। जहाँ राजा रहेंगे, वहाँ ये सब तो रहेंगे ही।

इसी प्रकार वे सृष्टि के आदि में अपनी समस्त शक्तियों को अपने भीतर ही बटोरकर चुपचाप अकेले बैठे थ। अकेले बैठे-बैठे ऊब गये। उनकी इच्छा हुई कुछ धूम धड़ाका हो, कुछ क्रीडा, खेल तथा चहल-पहल हो।

क्यों जी वे तो आत्मकाम हैं, आत्मकाम को इच्छा कैसी ? ये तो आत्मक्रीड, आत्मरति, आत्मतुष्ट हैं। वे अकेलेपन से ऊबे क्यों ? उन्होंने बहुत होने की इच्छा क्यों की ?

देखो जी, क्रीडा में, खेल में, मनोरञ्जन में, मनबहलाव में क्यों का प्रश्न नहीं उठता। उसमें जैसे भी जिससे भी मनोरञ्जन हो, मनोरञ्जन की मर्यादा में सब उचित है। अतः उसकी इच्छा जब सृष्टि करने की हुई तभी उसने कामना की। अपनी सङ्कल्प शक्ति को जगाया, प्रजा को पैदा होने को प्रेरित किया, क्योंकि वही समस्त प्रजाओं के–शक्तियों के–पति हैं। प्रजापति ने बहुत होने की कामना की। उस समय न दृश्य था, न द्रष्टा अकेले प्रजापति ध्यान कर रहे थे। कामना होते ही सोती हुई समस्त

शक्तियाँ उठकर बैठ गयीं। वे सब शक्ति मिलकर एक साथ उनकी नाभि से अंकुरित हो उठीं।

अंकुर तो पृथक्-पृथक् उपजते हैं। सब मिल एक साथ अंकुरित कैसे हुए ?

एक कटहल का बड़ा भारी फल है। उसके उदर में सैकड़ों बीज भरे हैं। यदि कटहल का पेट फाड़कर उनके बीजों को पृथक्-पृथक् बोया जाय तो उन सभी बीजों में पृथक्-पृथक् वृक्ष होने की शक्ति है, यदि उस बहुत भारी पके हुए कटहल में छिद्र करके उसे भूमि में गाड़ दो तो सब बीजों के अंकुर एक साथ ही उस छिद्र से निकल आवेंगे। एक ही बड़ा भारी अंकुर निकलेगा। महान् तत्वयुक्त। इसी प्रकार समस्त शक्तियों का सामूहिक बीज भगवान की नाभिकमल के छिद्र से चतुर्मुख ब्रह्मा के रूप में उत्पन्न हो गया। सृष्टि की कामना के आधार पर ही ब्रह्माजी की सृष्टि हुई थी। वे प्रजापति के पुत्र थे अतः वे भी प्रजापति कहलाये। जैसे संकल्प से वे सृष्टि—उत्पन्न—हुए थे वैसी ही संकल्पमयी सृष्टि भी उन्होंने की। उन संकल्प से उत्पन्न सनकादि से भी सृष्टि बढ़ाने कहा—"वे भी इस विषय में विशेष उत्साह नहीं दिखाने लगे। उन्होंने देखा मैंने मन से जो मरीचादि महान् शक्तिशाली ऋषि बनाये हैं, ये सृष्टि को बढ़ाने में उतने समर्थ नहीं। अब क्या करूँ कैसे सृष्टि करूँ ? यह सृष्टि का संकल्प कर ही रहे थे, उसी समय जैसे एक ही चने के दो दल हो जाते हैं। उनके शरीर के दो भाग हो गये। दाँया भाग पुरुष रूप था बायाँ स्त्री रूप। दोनों को मिलाने से एक मिथुन—जोड़ा बन गया। जोड़ा बनते ही काम का कोड़ा लगा, प्रजापति ने पुराना शरीर छोड़ा, दोनों ने पति-पत्नी का नाता जोड़ा सृष्टि का कार्य आरम्भ हो गया। अतः आदि पुरुष भी

प्रजापति, उनके द्वारा उत्पन्न ब्रह्मा भी प्रजापति और शरीर का जो पुरुष भाग मनु है वह भी प्रजापति ही हुआ। जोड़ा होते ही मैथुन धर्म से स्वतः ही मैथुनी सृष्टि बढ़ने लगी और इतनी अधिक बढ़ने लगी, कि ब्रह्माजी भी घबरा गये। उन्हें उस बाढ़ को कम करने के निमित्त मृत्यु देव की व्यवस्था करनी पड़ी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब तक प्राण रूप प्रजापति की महिमा उपासना कही। अब सब ब्रह्म-ही-ब्रह्म का पसारा है, ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं। इस प्रकार ब्रह्म की पूर्णरूपता दिखाने के निमित्त भगवती श्रुति अत्यन्त संक्षेप में सृष्टि का वर्णन करती है। इसी का विस्तार पुराणों में अनेक प्रकार से किया गया है। सृष्टि से पूर्व एकमात्र यह पुरुषाकार आत्मा-ही-आत्मा था। उसने अपने आप ही अपनी आलोचना आरम्भ की। उसे दूसरा कोई दिखायी ही नहीं दिया। इसलिये उसके मुख से सहसा निकल पड़ा। 'अहमस्मि' मैं ही मैं हूँ। आज तक भी कोई किसी की किवाड़ खटखटावे और वह भीतर से पूछे—"कौन है? तो यही उत्तर देगा—कोई नहीं मैं हूं।" माता-पिता शरीर का कुछ भी नाम रखें, किन्तु सब से पहिले उसमें मैं को अवश्य लगावेगा। मैं देवदत्त हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं छोटा हूँ, मैं बड़ा हूँ। यह मैं ही मानो ब्रह्मा हुआ। बाप की पदवी बेटा को प्राप्त होती ही है। अतः यह मैं–ब्रह्मा–भी प्रजापति के नाम से विख्यात हुआ।"

शौनकजी ने पूछा—"इसकी पुरुष संज्ञा क्यों है?"

सूतजी ने कहा—"प्रजापति के प्रतिबन्धक रूप समस्त पापों को जिसने उषन–दग्ध–करा दिया है, इसलिये इसकी पुरुष संज्ञा है। (पूर्वमौषादिति पुरुषः) जो पुरुष के इस अर्थ को जानकर

इसकी उपासना करता है, वह उस व्यक्ति को दग्ध कर देता है जो उससे प्रथम प्रजापति होना चाहता है।"

मैं ही हूँ, यह कहने वाला सृष्टि का कारणभूत ब्रह्मा अपने को अकेला पाकर भयभीत हो गया। इसीलिये आज तक भी एकाकी होने पर लोग भयभीत हो जाते हैं। अकेले पड़ जाने पर लोग डर जाते हैं।

जब अकेलेपन से उसे कुछ भय प्रतीत हुआ तो फिर उसने गम्भीरता पूर्वक विचार किया। भय सदा दूसरे से-अपने प्रतिद्वन्द्वी से-हुआ करता है। यहाँ पर मेरा कोई दूसरा प्रतिद्वन्द्वी तो दिखायी देता नहीं। फिर मैं डरता किससे हूँ। मुझे डरना नहीं चाहिये। इस विचार के आते ही प्रजापति का भय भग गया। वास्तविक बात यही है, कि अपने आपे से-अपने स्नेही व्यक्तियों से भी-कोई भयभीत नहीं होता। भय सदा दूसरों से ही हुआ करता है। द्वित्व में ही भय है एकत्व में तो सुख-ही-सुख है। दूसरा न होने पर भय होना ही नहीं चाहिये।

उसके अतिरिक्त दूसरा कोई था नहीं इससे वह भय रहित हो गया। यद्यपि यह रमण की इच्छा वाला ही था, किन्तु अकेला क्या रमण करता? जो सर्वथा नंगा रहा है वह निचो ड़ेगा क्या? रमण तो दो होने पर होता है। जब तक जोड़ा न हो-मिथुन न हो-तब तक रमण सम्भव नहीं। इसीलिये आज तक भी पुरुष अकेले रमण नहीं कर सकते।

जब रमण करने का संकल्प उठा तो स्वाभाविक ही है किसी ऐसे दूसरे व्यक्ति की इच्छा हो, जिसके साथ-रमण-क्रीड़ा की जाय। दो की इच्छा होते ही उसका मन उस स्थिति में हो गया जैसे एक होता हुआ भी चना भीतर से दो जुड़े हुए दल होते हैं। अर्थात छिकुला चढ़े रहने मे दीखता तो वह एक ही है, किन्तु

भीतर उसके दो भाग जुड़े हुए रहते हैं। इसी प्रकार दो बनने की इच्छा होते ही प्रजापति की स्थिति इस प्रकार की हो गयी, जिस प्रकार आलिंगित स्त्री पुरुष दो होते हुए भी मिले हुए एक ही प्रतीत होते हैं वैसे ही परिणाम वाला वह हो गया। अब जब मन से दो हो गये तो ऊपर का एकत्व का पतला छिलका कब तक एकत्व बनाये रखेगा। जैसे छिलका उतर जाने पर चने के दोनों दाने पृथक् पृथक् हो जाते हैं वैसे ही उसने अपने इस शरीर को भी दो भागों में विभक्त कर लिया। उन दो भागों से पति और पत्नी हुए। 'द्वेधा अपातयत्' दो भागों में गिरा दिया। गिरने से–गिर-कर दो हो जाने से–ही वे दोनों भाग पति और पत्नी कहलाये (पतनात् पतिश्च पत्नी च) दायाँ आधा अंग पुरुष पति कहलाया और बायाँ स्त्री पत्नी कहलायी। उस पुरुष ने कहा मैं तुम्हारा पालन करूँगा। इससे उसकी संज्ञा पति हो गयी (पाति=रक्षति–इति पतिः) जब उसने उसके पालन की प्रतिज्ञा कर ली तो उसने उसके अभिप्राय को जानकर उससे सम्बन्ध स्थापित कर लिया इससे वह पत्नी कहलायी। (पति अर्थज्ञे–सम्बन्धो यथा स्यात् तथा) जब उनमें पति-पत्नी भाव हो गया तो वे दोनों आधे आधे भाग मिलकर एक हो गये। इसीलिये महर्षि याज्ञवल्क्यजी ने कहा है। यह पुरुष शरीर विवाह के पूर्व जिन अन्नों की दाल बनती है उन अन्नों के दो दलों में से एक दल है। अर्थात् विवाह के पूर्व मनुष्य आधा रहता है। आधा स्थान रिक्त रहता है, खाली रहता है। विवाह हो जाने पर यह रिक्त स्थान स्त्री के द्वारा भरा जाता है, पूर्ण किया जाता है। जब पति-पत्नी मिल जाते हैं, तभी पुरुष का अंग पूर्ण होता है, वह पूर्ण कहलाता है। इसीलिये पत्नी को अर्धाङ्गिनी कहते हैं। वह पुरुष का आधा अंग है, भगवान् शंकर ने अपनी पत्नी पार्वती को आधे अंग में सदा के लिये बिठा

लिया तभी तो वे 'अर्धनारी नटेश्वर' कहलाते हैं। स्त्री पुरुष का पूरक भाग है पुरुष स्त्री का पूरक भाग है। जब वे दोनों मिलकर एक होते हैं संयुक्त हो जाते हैं। तभी सृष्टि वृद्धि का क्रम आरंभ होता है। यही मैथुनी सृष्टि आरम्भ होने की कथा है। पुरुष का स्त्री के प्रति-स्त्री का पुरुष के प्रति आकर्षण होता है, क्योंकि वे दोनों एक ही अंग के दो भाग हैं, अपनेपन में आकर्षण होना स्वाभाविक ही है। उसी से मनुष्यों की उत्पत्ति हुई। एक जोड़े से अनेक जोड़े हुए। प्रजापति का आधा दायाँ अंग मनु नाम से विख्यात हुआ। क्योंकि प्रजापति ने उसे अपना पुत्र मान लिया (मन्यते—इति मनुः) तो प्रजापति के पुत्र होने के कारण ये भी प्रजापति ही हुए। दायाँ जो आधा भाग था वह स्त्री रूप में सैकड़ों प्रकार से दीखने के कारण शतरूपा नाम से विख्यात हुआ। (शत रूपाणि अस्याः सा शतरूपा) सबसे पहिला मनु प्रजापति और शतरूपा का ही जोड़ा हुआ। ये दूसरे ब्रह्मा ही-प्रजापति ही-कहलाये। वह स्त्री शतरूपों में सैकड़ों रूपों में कैसे दिखायी दी, इस कथा को कहते हैं।

एक दिन शतरूपा ने एकान्त में बैठकर विचार किया—"इस पुरुष ने तो मुझे अपने से ही उत्पन्न किया है। अपनी ही उत्पन्न की हुई सन्तान से समागम करना तो उचित नहीं। यह मुझसे यह न्याय विरुद्ध कार्य क्यों करता है? अच्छा, यह पुरुषाकार है। मैं यदि अपने इस पुरुषाकार को छिपाकर किसी दूसरी योनि को धारण कर लूँ तो यहाँ तो यह भिन्न लिंग होने के कारण न पहुँच सकेगा। अतः उसने अपने को गौ के आकार में छिपा लिया। अर्थात् वह गौ बन गयी। प्रजापति पुरुष ने सोचा—"मेरी पत्नी कहाँ चली गयी?" जब उसने ध्यान लगाकर देखा—"अोहो, उसने तो गौ का रूप रख लिया है, तब तो मैं वृषभ

बनकर उनके पास गये और वृषभ रूप से उससे समागम किया। तब बहुत से गौ वृषभों के जोड़े उत्पन्न हो गये।"

शतरूपा ने सोचा—"यह तो इस योनि में भी पुरुष बनकर चला आया। तब वह जाकर घोड़ी बन गयी। तो मनु घोड़ा बनकर उससे मिले। तब शतरूपा गधी बन गयी। सोचा—"इस अधम योनि में न आवेगा, किन्तु वहाँ भी गधा बनकर उससे संयुक्त हुआ।" कहाँ तक गिनावें एक खुर वाले जितने भी पशु हैं, शतरूपा जो-जो भी रूप रखती, मनु उसी का पुल्लिङ्ग बनकर उससे समागम करता।

तब शतरूपा बकरी बन गयी। यह बकरा बनकर उससे जा मिला। वह भेड़ बन गयी तो इसने मेढ़ा होकर उससे सम्भोग किया कहाँ तक कहें बकरी, भेड़, चींटी, कीट, पतंग संसार में जितने भी जीवधारी जन्तु हैं शतरूपा उसमें से जो बनती उसी का पुल्लिङ्ग बनकर वह उस जाति की वृद्धि करता। इस प्रकार जितने भी स्त्री पुरुष रूप मिथुन हैं-जोड़े हैं-उन सभी की रचना इनके द्वारा हुई।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! इतना बड़ा औपनिषद् ज्ञान और बातें ऐसी जैसे बच्चों की कहानी। वह गौ बनी तो यह बैल बन गया, वह घोड़ी बनी तो यह घोड़ा बन गया, वह गधी बनी तो यह गधा बन गया। यह क्या बात है?"

हँसकर सूतजी बोले—"ब्रह्मन्! जिन्होंने उपासना नहीं की है, जो जड़वादी हैं, वे ऐसी बात कहें तो ठीक भी है, आप जैसे रसिक शिरोमणि ऋषि द्वारा ऐसी शंका तो नहीं होनी चाहिये। किन्तु आप उन अज्ञों का ही प्रतिनिधित्व करते हुए ऐसा प्रश्न कर रहे हैं।

ब्रह्मन्! भगवती श्रुति ने कितनी ऊँची बात को कितनी सर-

लता पूर्वक कथा के रूप में समझा दिया है। भगवन्! आप शब्दों को छोड़कर भाव पर ध्यान दीजिये। इस कथन का एकमात्र भाव यही है, कि सब योनियों में स्त्री पुरुष के जोड़े के रूप में वही भगवान् प्रजापति क्रीड़ा कर रहे हैं। दो नहीं, वे अकेले ही दो बनकर–तीन होकर–बहुरूप बनाकर रमण कर रहे हैं, खेल रहे हैं। प्रकृति नटी जो-जो रूप रखती है, पुरुष नट वैसा रूप रखकर उसका अनुसरण करता है। यही स्रष्टा बनकर सृष्टि करता है और अपने को ही सृष्टि रूप में अनुभव करता है।"

. शौनकजी ने पूछा—"वह प्रजापति अपने को ही सृष्टि रूप में अनुभव कैसे करने लगा ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! उसके द्वारा चर-अचर समस्त जीवों की सृष्टि हो गयी। सबकी रचना इस प्रजापति द्वारा ही हुई थी तब उसने अनुभव किया, कि मैंने ही इस सम्पूर्ण जगत् को रचा है। इसलिये मैं ही यह सम्पूर्ण जगत् हूँ। जगत् मेरा ही रूप है। सृष्टि उसे कहते हैं, जिसका निर्माण किया जाय (सृज्यते इति सृष्टिः) सृष्टि को रचकर वह अपने को ही सृष्टि समझने लगा। स्रष्टा और सृष्टि में उसने अभेद भाव किया। जो उपासक स्रष्टा और सृष्टि के इस रहस्य को समझकर उपासना करता है वह इस प्रजापति की सृष्टि में प्रचुर स्रष्टा बन जाता है। इस प्रकार स्रष्टा द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति बताकर यह एकमात्र ब्रह्म ही परिपूर्ण भाव से सबमें व्याप्त है इस बात को बताया और उसकी उपासना का भी फल बता दिया। अब आगे जैसे अग्नि आदि देवरूप से अति सृष्टि बताई जायगी, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

अपने तें उत्पन्न करी क्यों करत समागम ।
शतरूपा यों सोचि छिपी गौ बनि पृतागम ।।
मनु तब बनिकें वृषभ समागम तिहि सँग कीन्हों ।
गाय बैल तिहि भये रूप घोड़ी धरि लीन्हों ।।
घोड़ा पुनि मनु बनि गये, शतरूपा गर्दभि भई ।
बनि गर्दभ मनु भोग करि, इक शफ सुर सञ्ज्ञा भई ।।

ब्रह्म की पूर्णरूपता (२)

(२०५)

सोऽवेदहं वाव सृष्टिरस्म्यहँ हीदँ सर्वमसृक्षीति।
ततः सृष्टिरभवत्सृष्ट्याँ हास्यैतस्यां भवति य एवं
वेद ॥❀

(बृ० उ० १ अ० ४ ब्रा० ५ मं०)

छप्पय

बकरी बकरा बने भेड़ भेड़ा चेंटी बनि।
चेंटा है मिलि गयो मिथुन सब ह्वै ई बनि पुनि॥
सबकी रचना करी चराचर जगत बनायो।
करी प्रजापति सृष्टि सृष्टि स्रष्टा कहलायो॥
स्रष्टा सृष्टि एक हैं, जो रहस्य जानत पुरुष।
होइ मुख्य स्रष्टा जगत, जग में पावै अति हरष॥

ब्रह्म एक ही है, वही नाना रूपों में परिणित हो गया है। उसे ही विद्वान् लोग भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा करते हैं। उसी शाश्वत परब्रह्म परमात्मा का नाम प्रजापति है, उसे ही ब्रह्मा के

❀ 'मैं ही सृष्टि हूँ' उस प्रजापति ने ऐसा अनुभव किया। इसकी रचना मैंने की है। इसीलिये वह 'सृष्टि' हुआ। जो इस रहस्य को भलीभाँति जानता है। वह भी उस प्रजापति की सृष्टि में मुख्य स्रष्टा होता है।

नाम से पुकारा जाता है, फिर वही मनु कहलाने लगता है। अग्नि, इन्द्र, प्राण, मित्र, वरुण, दिव्य, गरुड, गरुत्मान, दीप्ति मान्, वायु, यम उसी एक सत्य स्वरूप ब्रह्म को वेदज्ञ ब्राह्मण पृथक् पृथक् नामों से पुकारते हैं। सृष्टि के आदि में वह एक ही था, उसी की समस्त शक्तियाँ उसमें अन्तर्भुक्त थीं, उसी में समायी हुई थीं, अचेतनावस्था में पड़ी हुई थीं। जब उसने बहुत होने की इच्छा की। एक से अनेक होना चाहा तो शक्ति समूह जो प्रसुप्तावस्था में था, जागृत हो गया। वह शक्ति समूह ही, मन के द्वारा, वाणी के द्वारा, मैथुनादि विविध कर्मों द्वारा, भिन्न-भिन्न रूपों में परिणित हो गया। इन सबके मूल तत्व एक ही है। उसी तत्व को खोजना चाहिये उस तत्व को भली भाँति समझ लेना यही आत्मदर्शन है, यही ब्रह्म ज्ञान है। यही प्रियतम की प्राप्ति है, क्योंकि यह प्राणी प्रेम की भूख में ही व्याकुल हुआ चारों ओर भटक रहा है। जिसमें वह प्रेम देखता है, उस ओर दौड़ता है। उसका सेवन करता है। अन्त में उसे पता चलता है, जिस दारा, धन, पुत्र, मित्रादि को मैं प्रेमास्पद समझता था, यह तो मेरा भ्रम था। एक मात्र आत्मा ही परम प्रेमास्पद है। ऐसा ज्ञान होना ही मोक्ष का द्वार है। यही वेदान्त है। यही परागति है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! प्रजापति ने इस जगत् का निर्माण किया, सृष्टि की। इसलिये सृष्टि होने से उसने सोचा—"मैं ही सृष्टि हूँ। अतः वह स्रष्टा और वही सृष्टि नाम से प्रसिद्ध हुआ, अतः स्रष्टा सृष्टि को एक ही जानना चाहिये। इसका फल पीछे बता ही चुके हैं।

इस प्रकार योनि द्वारा मैथुनी सृष्टि का वर्णन करके अब

हाथ और मुख द्वारा जो अति सृष्टि की, उसका प्रतिपादन किया जाता है।

प्रजापति ने दोनों हाथों में दो अरणी लेकर उनका मन्थन किया। अब तक तो मिथुन होकर स्त्री पुरुष मन्थन से योनि द्वारा मनुष्य गवादि की मैथुना सृष्टि हुई थी। अब उसने दोनों हाथों से मथकर और मुख से फूँक मार-मारकर अग्नि की रचना की। अग्निदेव प्रकट हो गये। जो आदि पुरुष परब्रह्म प्रजापति थे, वे ही चतुर्मुख ब्रह्मा प्रजापति हुए, फिर वे ही मनु प्रजापति रूप में अनेक योनियों के रूप में प्रकट हुए। और वे ही फिर योनि द्वारा नहीं, हाथ और मुख के द्वारा अति सृष्टि के रूप में अग्निदेव बन कर प्रकट हुए।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! मिथुन द्वारा जो गवादि सृष्टि हुई वह तो योनि द्वारा हुई। इस अग्नि की सृष्टि मुख हाथों से क्यों हुई?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! मैथुनी सृष्टि साधारण सृष्टि है। यह अग्निदेव की सृष्टि, दिव्य सृष्टि है अति सृष्टि है। दोनों में कुछ अन्तर तो होना ही चाहिये। फिर कुछ साम्यता तो है ही, योनि भी भीतर से लोम रहित ही होती है और हाथों की हथेलियाँ तथा मुख भी भीतर से लोम रहित ही होता है। इस प्रकार अलोमता रूपी साम्यता तो दोनों में है ही। इसलिये इस प्रजापति के मुख से पहिले ही पहिल अग्नि देवता प्रकट हुए। ये अग्नि सर्व देवमय हैं जितने देवता हैं। सब इन प्रजापति के ही भेद हैं।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! जब समस्त देवता उन्हीं प्रजापति की विसृष्टि है। उन्हीं के रूप हैं। तो यज्ञों में पृथक्-पृथक् देवताओं का नाम लेकर यजन क्यों किया जाता है? यह

कर्ता ब्राह्मण गण तो भिन्न भिन्न देवताओं का नाम ले-लेकर यह क्यों कहा करते हैं इस अग्निदेव का यजन करो, इस इन्द्रदेव का यजन आदि-आदि ?"

यह सुनकर सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! आपका कथन सत्य है। ये समस्त देवता उन्हीं प्रजापति की विसृष्टि हैं उन्हीं के रचे हुए हैं। वे प्रजापति ही इन अनेक नाम रूपों में हो गये हैं। इन सब मैथुनी सृष्टि, 'दिव्य सृष्टि, मर्त्य सृष्टि, अमर्त्य सृष्टि के रचयिता वे ही हैं। अग्नि तो अन्नाद है, अन्न को खाने वाला है। अतः उसके खाने के लिये उसने अन्न की रचना की। अन्न की रचना कैसे की ? जो कुछ द्रव पदार्थ है-गीला है-उसी को उसने वीर्य से उत्पन्न किया। वीर्य द्रव होता है, शीतल होता है। वह द्रव से रचा पदार्थ ही सोम है। सोम ही समस्त ओषधियों का स्वामी है, वही अन्न है अन्न उत्पादक है। अतः अग्नि तो अन्नाद-अन्न को खाने वाला-हुआ और सोम-साक्षात् अन्न ही हुआ। इस प्रकार अन्न और अन्नाद की सृष्टि करने के अनन्तर इन्द्र, वरुण, कुबेरादि अपने से उत्कृष्ट देवताओं की रचना की।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! देवता आदि प्रजापति से उत्कृष्ट कैसे हैं ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! प्रजापति ने पुरुष रूप से ही तो यह सब रचना की। पुरुष का अर्थ पीछे ही बता आये हैं, कि इस सबसे पूर्ववर्ती आत्म संज्ञक प्रजापति ने समस्त पापों को उपन—दग्ध किया। इसीलिये यह पुरुष कहलाया। भगवन्! इन्द्र, वरुण, कुबेरादि देव अजर, अमर अमर्त्य देव हैं। पुरुष कैसा भी हो वह है तो मरणधर्मा मर्त्य ही। इसीलिये प्रजापति पुरुष से

उत्कृष्ट देवता है। तभी तो भगवती श्रुति ने कहा है–स्वयं मर्त्य होने पर भी इसने अमृत देवताओं को उत्पन्न किया"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! जो जिस गुण वाला होगा, वह उसी गुण वाली वस्तु को उत्पन्न कर सकेगा। जैसे मिट्टी से जितने भी पदार्थ बनेंगे सब मृण्मय ही बनेंगे। सुवर्ण से जितने आभूषण पात्र बनेंगे सब सुवर्णमय ही बनेंगे। इसी प्रकार मर्त्य के द्वारा जो भी सृष्टि होगी वह मर्त्य ही होगी, मर्त्य द्वारा अमृत कैसे उत्पन्न हो सकते हैं?"

हँसकर सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! उन प्रजापति को मर्त्य अमर्त्य कहना एक व्यवहारिक बात है! वास्तव में वे तो दोनों से परे हैं। यहाँ मर्त्य होकर अमर्त्यों–अमर देवताओं–को उत्पन्न किया। इस कथन से यहाँ उनका विरुद्ध धर्माश्रयी गुण दिखाया है। जैसे अन्य स्थानों में भी कहा है। वह बिना पैरों के चलता है, बिना कानों के सुनता है, बिना हाथों के कार्य करता है। वह सत् भी है असत् भी है। वह एक स्थान में बैठा हुआ भी दूर चला जाता है। सोता हुआ भी सब ओर चला जाता है। इससे उसकी सर्वज्ञता, सर्व शक्तिमत्ता, सब कुछ करने की शक्ति का ही निर्देश किया है। नहीं तो वह तो सनातन सर्व नियन्ता सर्वाधार है ही। इस प्रकार उसने मैथुनी सृष्टि और अति सृष्टि–दिव्य सृष्टि–की। जो इस रहस्य को यथार्थ रूप से जान जाता है, वह इसकी इस अति सृष्टि में ही हो जाता है।"

शौनकजी ने कहा—"मर्त्य होकर अमर्त्य की रचना की, निगूढ़ भाव को तो हम समझ गये, किन्तु अव्याकृत परब्रह्म व्याकृत कैसे हो गया? जो अव्यक्त है, उसे व्यक्त किसने कर दिया?"

सूतजी ने कहा—"समस्त भूत–सम्पूर्ण चराचर जीव पहले

अव्यक्त रहते हैं, मध्य में व्यक्त हो जाते हैं। अन्त में अव्यक्त में ही जाकर पुनः मिल जाते हैं। यह सदा से ऐसे ही होता आया है। सृष्टि से पूर्व यह सम्पूर्ण चराचर जगत् अव्यक्त ही था। सबके पृथक् पृथक् नाम और रूप नहीं थे। सब उन्हीं परब्रह्म प्रभु में अन्तर्भुक्त थे। उन्हीं में तदाकार थे। उनके अतिरिक्त कोई दूसरा होता तो वह इन्हें व्यक्त करता। उस समय तो केवल वे-ही-वे थे। अतः अपने आप ही अपने निजी संकल्प से ही नाम रूप के योग से व्यक्त बन गये। वे ही पशु, पक्षी, मनुष्य, देवता, आदि पृथक् पृथक् नाम रूपों से व्यक्त हो गये। वे ही निमित्त हैं वे ही उपादान हैं। वे अपने से ही विभक्त से बनकर भिन्न-भिन्न नाम और रूपों से दिखायी देने लगते हैं। अब भी व्यवहार में यही कहा जाता है, कि अमुक वस्तु इस नाम और इस रूप वाली है। सबकी रचना करके अन्तर्यामी रूप से वह सब में बैठा रहता है।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! शरीरों में वह कहाँ बैठा रहता है, बहुत से जीव तो ऐसे हैं जो नेत्रों से दिखायी तक नहीं देते, उन्हें अणुवीक्षण यन्त्रों द्वारा देखा जा सकता है, उनमें वह कहाँ रहता होगा और बहुत से हाथी, शरभ, तिमिंगल आदि बड़े बड़े आकार के जीव हैं। उनमें वह किस स्थान में बैठा होगा?"

यह सुनकर हँसते हुए सूतजी बोले—"ब्रह्मन्! जो कर्तुं-अकर्तुं अन्यथा कर्तुं-सब कुछ करने में समर्थ है, उसके सम्बन्ध में ऐसा प्रश्न ही नहीं उठता। वह तो चींटी से ब्रह्मापर्यन्त देहों में पैर के नखों से लेकर सिर के केशों तक प्रवेश [illegible] जैसा देह होता है, उसी के अनुरूप अपना रूप बना और शरीर में कोई भी अंग प्रत्यङ्ग नहीं जिसमें

अस्तित्व न हो। जैसे छुरे हैं, तलवार हैं इनका जो खोल या घर होता है, उन्हीं के अनुरूप बना रहता है। जैसे छुरा या तलवार अपने-अपने खोलों मे घरों में छिपे रहते हैं। देखने वाले कहते तो हैं, देखो, उस व्यक्ति के कमर में छुरा लटक रहा है, किन्तु देखने वाला खोल में छिपे छुरे को नहीं देखता। वह तो ऊपर के उसके घर को ही देख रहा है। छुरा तो घर में छिपा हुआ है और उसी के आकार का है। उसी प्रकार आत्मा देहों में तदनुरूप होकर छिपा बैठा है, उसे सर्वसाधारण देख नहीं सकते।

दूसरा दृष्टान्त लीजिये। विश्व का भरण पोषण करने वाले अग्निदेव हैं। वे समस्त काष्ठों के अनुरूप ही बनकर बैठे हुए हैं, किन्तु सब लोग उन्हें देख नहीं सकते। जब संघर्ष से–रगड़ से–वे व्यक्त होते हैं, तो काष्ठ के अनुरूप ही दिखायी देते है। नाना रूपों में वही व्याप्त है, जैसे तिल में तैल व्याप्त है। जो इस प्रकार सर्व व्यापक रूप में उन्हें नहीं देखता वह अपूर्ण रूप है। क्योंकि वे तो सभी मे समान भाव से व्याप्त हैं। परब्रह्म परमात्मा सब नामों से सब रूपों से वे ही अभिव्यक्त हो रहें हैं। जीवों में प्राणन क्रिया करने से वे ही प्राण नाम से प्रसिद्ध हैं। भाषण करने से बोलने के कारण उन्हें ही वाक् कहते हैं। वे ही आँखों में बैठकर देखते हैं। अतः उन्हीं का नाम चक्षु हो जाता है। वे कानों बैठकर श्रवण करते हैं। अतः श्रोत्र नाम से वे ही पुकारे जाते हैं। वे मन में बैठकर मनन करते हैं अतः मन भी वे ही कहे जाते हैं। ये उन्हीं के कर्मों के अनुसार नाम हैं। जैसा कर्म होता है वैसा ही उनका नाम पड़ जाता है। जैसे बेर बेचने वाले का नाम बेर वाला, दही बेचने वाले का नाम दही वाला आदि-आदि। काम पृथक्-पृथक होने से नाम भी पृथक् पृथक् पड़ गये हैं, किन्तु वास्तव में वे एक ही हैं। जो इनमें से एक-एक

नाम को पृथक् समझकर उपासना करता है। दूसरे नाम को पृथक् मानकर उसके उपासक से लड़ता है, तो वह उनके यथार्थ रूप को नहीं जानता। वह असम्पूर्ण ही है।

अतः उपासक को चाहिये, कि सब मे समान रूप से व्याप्त उस आत्मा की सर्वव्यापी में सर्वरूप में उपासना करनी चाहिये। वह एक ही अनेक विशेषणों से युक्त होता है। आत्मा शब्द का अर्थ ही यह है, कि वह निरन्तर सभी अवस्थाओं में सब में अनुवर्तन करे। अत धातु सातत्य गमन अर्थ में प्रयुक्त होती है। (अतति–सन्तत भावेन–जाग्रदादि सर्वावस्थासु–अनुवर्तते–इति= आत्मा) इसी भावना से आत्मोपासना करनी चाहिये। आत्मा में समस्त नाम रूप एक हो जाते हैं। समस्त पदार्थों का अन्तर्भाव आत्मा में ही हो जाता है। सबका प्राप्तव्य स्थान आत्मा के ज्ञान से सम्पूर्ण जगत् के पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। इस जगत् के पदार्थों द्वारा उस आत्मा को कैसे जान लेता है, इस विषय में एक दृष्टान्त देते हैं।

प्राचीन काल में एक खोजा होते थे। वे पैरों के चिन्हों को देखकर जिसके पैर के चिन्ह हैं उनके स्वभाव का, रूप रंग का स्थान का पता लगा लेते थे। किसी की गौ भैंस या अन्य पशुओं को चोर खोल ले गये, तो वे खोजे पशुओं के तथा चोरों के पद चिन्हों को देखकर यह पहिचान लेते थे, कि कै चोर थे, उनमें कितने युवक थे, कितने बूढ़े थे, कौन काना था, कौन लँगड़ा था। वे पशुओं को किधर ले गये हैं। उन पदचिन्हों पर चलते-चलते अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँचकर पशुओं को और पशुओं के अपहरण कर्त्ताओं को पकड़ लेते थे। इसी प्रकार इन सब वस्तुओं में व्याप्त आत्मा को अन्वेषण द्वारा उपासक प्राप्त कर लेता है। एक आत्मा के ज्ञान से समस्त जगत् का ज्ञान हो जाता

है। अब इस आत्मोपासना का फल बताते हैं, कि जो इस प्रकार आत्मा को जान लेता है यश ख्याति को प्राप्त होता है और पुण्य-श्लोकता को तथा महापुरुषों के सहवास को प्राप्त होता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार यह समग्र आत्मोपासना का महत्व बताया अब आगे यह आत्मा ही निरतिशय प्रिय है, इस आत्मा से बढ़कर प्रिय पदार्थ जगत् में दूसरा नहीं। इस विषय का निरूपण करेंगे। आशा है आप इस विषय को दत्तचित्त होकर श्रवण करेंगे।"

छप्पय

(१)

मन्थन करि मुख अग्नि रची होवे यज्ञादिक।
लोम रहित मुख योनि इन्द्र अरु अग्नि सृष्टि इक॥
सर्वदेवमय यही प्रजापति गीलो कछु जो।
बीरज तैं उत्पन्न करयो तिनि सोमहि है सो॥
सोमदेव ही अन्न है, अग्नि कही अन्नाद यह।
देव सृष्टि अति सृष्टि अज, जाने सो है जात वह॥

(२)

अव्याकृत जग प्रथम रूप नामहु तैं व्याकृत।
नख शिख तन में प्रविशि खोल में छुरा छिप्यो नित॥
अग्नि काठ में छिपी न पूरन जन नहिं निरखत।
प्राणन तैं ही प्राण बोलिबे तैं वानी उत॥
सुनिबे तैं है श्रोत्र यह, मनन करत मन बनि गयो।
एक आतमा जानि सब, आतमरूप भजि सो भयो॥

ब्रह्म की पूर्णरूपता (३)

[२०६]

तदाहुर्यद्ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते ।
किमु तद्ब्रह्मावेद्यस्मात्तत्सर्वमभवदिति ॥❁

(बृ० उ० १ अ० ४ ब्रा० ९ मं०)

छप्पय

सुत धन सब तैं अधिक आतमा प्यारो अतिशय ।
जो प्रियदर्शी आत्म वाक ताको हो सतमय ॥
आत्म रूप प्रिय करै उपासन सब फल पावै ।
मरणशील प्रिय होइ न तिहि अमृत ह्वै जावै ॥
ब्रह्म ज्ञान तैं सर्व हों, अस कहि द्विज होवै अभय ।
ब्रह्म कहा जान्यो भयो, ताही तैं वह सर्वमय ॥

लोक में जो पवित्र, चमकीली, उज्वल, सुन्दर, दर्शनीय वस्तुएँ हैं वे हमें प्यारी लगती हैं, उनके प्रति हमारा आकर्षण होता है, किन्तु कब ? जब उनमें अपनापन हो, आत्मीयता का भाव हो। जो सर्वत्र अपने श्यामसुन्दर को ही देखते हैं, उन्हें संसार में अप्रिय कोई वस्तु ही दिखायी नहीं देती। वे सबमें

● ब्रह्म ब्राह्मणों ने एक प्रश्न किया ! उन्होंने यह कहा, कि सब लोग ऐसा मानते हैं, कि ब्रह्म विद्या के द्वारा 'हम सब सर्व हो जायेंगे' तो ब्रह्म जिसके द्वारा सर्व हो गया उसने क्या जाना ?

अपने इष्टदेव के दर्शन करते हैं। एक महात्मा थे, वन में जा रहे थे। एक सिंह ने दहाड़ लगायी और वह उनकी ओर झपटा। महात्माजी उसकी चमकीली आँखों को देखकर, सुन्दर भरे हुए कन्धों और कृश उदर को देखकर मुग्ध हो गये। उसकी अपूर्व दर्शनीय शोभा को निहारते हुए तन्मय हो गये। उन्हें उसके दर्शनों से नृसिंह भगवान् की स्मृति हो उठी। अहा! भगवान् ने इसी प्रकार हिरण्यकशिपु द्वारा प्रताड़ित अपने भक्त प्रह्लाद की रक्षा की होगी?

वे महात्मा सबमें अपने इष्ट का दर्शन करने वाले थे, जगत् को सियाराममय समझने वाले थे। सबको वासुदेव मानने वाले थे, ऐसे वासुदेव दृष्टि वाले महात्मा दुर्लभ हैं। संसार की प्रत्येक वस्तु हमें आकर्षित करती है, किन्तु जिसमें सौंदर्य के कारण, सम्बन्ध के कारण, उपयोगिता के कारण अथवा अन्य किसी कारण से अपनापन हो जाय, वह अधिक आकर्षक बन जाती है। जैसे पत्नी है वह सुखद है, मनोज्ञ है, उससे धर्मपूर्वक सम्बन्ध है वह सबसे अधिक आकर्षक है, प्रिय है। अपना पुत्र है, अपने से ही उत्पन्न हुआ है, शरीर का रक्त का-सम्बन्ध है, वह भी प्रिय है। धन है, अत्यन्त उपयोगी है, उससे संसार के सभी व्यवहार चलते हैं, अतः उसमें भी आकर्षण है, वह भी अत्यन्त प्रिय है किन्तु ये सब पदार्थ नाशवान् हैं, अन्तवन्त हैं, नश्वर हैं, परिवर्तनशील हैं, अतः अत्यन्त प्रिय नहीं हो सकते। क्योंकि प्रेम तो नित्य है, शाश्वत है अविनाशी है। वह नाशवान् वस्तुओं में कहाँ मिलेगा? वह तो नित्य में शाश्वत में सदा एकरस रहने वाले में ही मिलेगा। इन गुणों वाला तो आत्मा ही है, अतः आत्मा ही निरतिशय प्रिय है। वह सबसे

अधिक प्यारा है। अन्य वस्तुओं में जो प्रियता है वह आत्मा के ही कारण है। अपनेपन के ही कारण है।

जैसे अपना पुत्र है। सुन्दर है, स्वस्थ है सुयोग्य है, विद्वान् है, किन्तु किसी भी कारण से उसमें आत्मीयता नहीं, न वह पिता को अपना समझता है, न पिता का ही उसके प्रति आत्मीयता का भाव है, तो वह पुत्र होने पर भी प्रिय नहीं। यही बात पत्नी आदि सभी सम्बन्धियों के सम्बन्ध में समझनी चाहिये। संसार में जो भी प्रिय है आत्मा के कारण अपनेपन के कारण। इससे यही सिद्ध हुआ वस्तुओं में प्रियता नहीं आत्मा में-अपनेपन में-प्रियता है। सबसे प्रिय वस्तु आत्मा है, वही निरतिशय प्रिय है। इसी बात को भगवती श्रुति अनेक दृष्टान्तों द्वारा बार-बार बताती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवती श्रुति कहती है—"यह आत्मा पुत्र से भी अधिक प्रिय है। क्योंकि पुत्र में प्रियता आत्मा के ही कारण है, शरीर के कारण नहीं। जीवात्मा के पृथक् होने पर शरीर तो वही रहता है, किन्तु पिता उस मृतक से प्रेम नहीं करता उसे अपने हाथों से अग्नि में जला आता है।"

संसार में धन सबसे प्रिय वस्तु है, किन्तु आत्मा धन से भी अधिक प्रिय है, क्योंकि आत्मतत्व का जिज्ञासु जब आत्मज्ञान के लिये गृह त्यागकर संन्यास धारण करता है, तब धन को तृण-वत् त्याग देता है, फिर न उसकी स्पृहा ही करता है, न उसका स्पर्श ही करता है। मनुष्य प्रिय वस्तु का त्याग तभी करेगा, जब उसे उससे भी कोई प्रिय वस्तु प्राप्त होती हो। अतः आत्मा धन से भी अधिक प्रिय है। कहाँ तक गिनावें संसार में जितने भी प्रिय पदार्थ हैं उन सबसे भी अधिक आत्मा प्रिय है। क्योंकि यह आत्मा इन सबकी अपेक्षा अत्यन्त निकटवर्ती है, सबसे

अन्तरतर है, सबकी अपेक्षा मुख्य है। इसलिये आत्मा को ही निरतिशय प्रिय मानकर इसकी उपासना करनी चाहिये। जो आत्मा को ही परमप्रिय मानकर उसकी उपासना करते हैं, उनकी वाणी में ऐसी शक्ति हो जाती है, कि वे वर तथा शाप देने में समर्थ हो जाते हैं। उनकी शक्ति इतनी बढ़ जाती है, कि कोई ससारी पुरुष आत्मा से भिन्न पुत्र मित्र धनादि को ही प्रिय मानता है। और ऐसे आत्मदर्शी पुरुष का किसी कारणवश कोई अनिष्ट कार्य कर देता है और वह आत्मोपासक यह कह दे कि "तेरा प्रिय पुत्र नष्ट हो जाय, तेरा प्रिय धन नष्ट हो जाय" तो अवश्य वैसा ही हो जायगा, अतः किसी भी आत्मोपासक का अनिष्ट कार्य न करना चाहिये। क्योंकि वह शाप-वरदान देने में समर्थ होता है।

सारांश यह हुआ कि साधक को आत्मरूप परमप्रिय की ही उपासना करनी चाहिये। जो उपासक आत्मरूप परमप्रिय की ही उपासना करता है उसका प्रिय अत्यन्त मरणशील-पुत्र मित्र धनादि-पदार्थ नहीं हो सकते।

अब कुछ विद्वान ब्राह्मण ब्रह्म के सर्वरूप होने के सम्बन्ध में प्रश्न उठाते हैं, उसी का वर्णन आगे किया जायगा।

ब्राह्मणों ने प्रश्न उठाया—"बहुत से मनुष्य यह मानते हैं, कि ब्रह्म विद्या के द्वारा हम सर्व हो जायँगे। तो उस ब्रह्म ने क्या जाना था जिसके कारण वह सर्व हो गया ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! अपने से भिन्न कोई दूसरा हो तो उसे जानने का प्रयत्न भी हो। सृष्टि के आदि में तो यह केवल ब्रह्म ही-ब्रह्म था। उस समय जानने-न-जानने का प्रश्न ही नहीं उठता था, क्योंकि जगत् का कोई भी पदार्थ उस समय विद्यमान नहीं था। जब बहुत होने की कामना हुई, तब सर्व

यम उसने अपने को ही जाना कि "मैं ब्रह्म हूँ" अर्थात् मैं केला ही ब्रह्म हूँ अब बहुत हो जाऊँ। जहाँ उसने बहुत होने की इच्छा की, वहीं वह सर्व हो गया। उसी ने देवताओं का रूप धारण कर लिया। उन देवताओं में से जिस जिसने उसके यथार्थ रूप को जाना, वे तद्रूप हो गये। फिर ऋषि और मनुष्यों में से जिस जिसने उसे जाना वे भी सब तद्रूप ही हो गये। उन्हीं परब्रह्म परमात्मा को आत्मरूप से देखते हुए महर्षि वामदेव ने यह वाक्य कहा था—"मैं ही कभी मनु हुआ कभी सूर्य भी" अर्थात् सूर्य, मनु, पशु, पक्षी सब उस आत्मा परब्रह्म के ही रूप हैं। जो इस 'अहं ब्रह्मास्मि' के यथार्थ रहस्य को जान लेता है, वह अब भी सर्वरूप ब्रह्म स्वरूप हो जाता है। उसे यदि देवता भी चाहें कि पराजित कर दें, तो वे उसके पराभव में समर्थ नहीं हो सकते। क्यों नहीं हो सकते? इसलिये नहीं हो सकते, कि वह सर्वमय है। सर्व में देवता भी आ जाते हैं, अतः वह देवताओं की भी आत्मा है। अपना आपे से कोई अपने को पराजित नहीं करता। इसके विपरीत जो अपने से भिन्न देवता की भिन्न भाव से उपासना करता है। और सोचता है मैं दूसरा हूँ, मेरा देवता दूसरा है जो भेद भाव रखकर उपासना करता है, वह ब्रह्म के यथार्थ तत्त्व को नहीं जानता। वह तो अन्य पशुओं की भाँति देवताओं का नर पशु ही है। पशु क्यों है? इसलिये पशु है, कि वह अविवेक से सबको एक ही भाँति देखता है। बुद्धिमान पुरुष ऐसे पशुओं को पालकर उनसे अपना कार्य कराया करते हैं। लोक में मनुष्य बैलों से कृषि आदि का, हाथी, घोड़ा, ऊँट आदि पशुओं से वाहन आदि का कार्य लेते हैं। बैल आदि पशु खेती में अन्न आदि पैदा करके मनुष्यों का पालन करते हैं। मनुष्यों के काम करते हैं। ऐसे ही भेदवादी पुरुष देवताओं का पशु है,

वह देवता पितरों का श्राद्ध यज्ञयागादि करके पालन करता रहता है। ज्ञान के अभाव में पशुओं की भाँति वार-वार जन्मता रहता है, वार-वार मरता रहता है। इसीलिये देवताओं को यह प्रिय नहीं है, कि मनुष्यों को यथार्थ ज्ञान हो ?"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! देवता क्यों नहीं चाहते, कि मनुष्यों को ब्रह्मज्ञान हो ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! किसी कृपक के यहाँ आठ वैल हैं, उनमें से कोई एक वैल चुरा ले जाय, तो उस किसान को कितना बुरा लगेगा। एक भी अपने उपयोगी पशु के हरण करने पर किसान को कष्ट होता, यदि उसके वहुत से उपयोगी पशु चुरा लिये जायँ तव तो उसके कष्ट का कहना ही क्या है ? इसी प्रकार अज्ञानी पुरुष पशु देवताओं के उपयोगी पशु है, उन्हें नित्य वलि प्रदान करता है। ज्ञान हो जाने पर तो वह उनके हाथ से निकल जायगा। इसीलिये देवता नहीं चाहते मनुष्य एकात्म भाव से उपासना करके ब्रह्म तत्त्व को जानें, क्योंकि वह ब्रह्मज्ञान सम्पन्न होने पर तो देवताओं से ऊपर उठ जायगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार ब्रह्म की पूर्ण रूपता-सर्वरूपता-बताकर ब्रह्मोपासना का फल वताया। और जो भेदभाव रखकर उपासना करते हैं, उनका पशुत्व सिद्ध करके उनका देवानाप्रिय-देवताओं का प्रिय पशु कहा। अब आगे क्षत्रिय सर्ग तथा ब्राह्मण जाति की उत्पत्ति, वैश्य तथा शूद्रों की उत्पत्ति कैसे हुई और फिर धर्म की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, धर्म का क्या प्रभाव है उसका क्या स्वरूप है, इन सब बातों का विवेचन अगले प्रकरण में किया जायगा। आशा है आप इन सब विषयों को समाहित चित्त होकर श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

ब्रह्म प्रथम इक रह्यो "ब्रह्म हौं हूँ" तिहि जान्यो ।
होइ सर्व तिहि जानि देव, ऋषि, नर सब मान्यो ॥
ब्रह्म ब्रह्मवित होइ सर्व बनि जीते सब सुर ।
भेद उपासन करै देव पशु बनि जीवै नर ॥
कृपकनि पशु होवैं हरन, दुखी होईं चिन्ता करें ।
ब्रह्मज्ञान नहिँ होइ नर, सुर चाहें पशु बनि मरें ॥

[२०७]

स नैव व्यभवत्स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति ॥*

(बृ० उ० १ अ० ४ ब्रा० १२ म०)

छप्पय

ब्रह्म प्रथम इक करम करि सक्यो नहिं विभूतियुत ।
छत्र इन्द्र, यम, वरुण सोम की कीन्हीं उतपति ॥
क्षत्रिय हैं उत्कृष्ट उपरि मख बैठें विप्रनि ।
किन्तु योनि है ब्रह्म करें क्षत्रिय आश्रय तिनि ॥
द्विज हिंसा क्षत्रिय करें, नाश योनि अपनी करें ।
ते पापी द्रोही अधम-होवैं जिनि तें द्विज मरें ॥

चातुर्वर्ण्य व्यवस्था समस्त समाजों में पायी जाती है। चाहें उनका नाम दूसरा हो, अभिव्यक्ति दूसरी प्रकार से हुई हो। सभी समाजों में कुछ तो ऐसे तत्त्व प्रकृति के होते हैं, जो सदा

---

* ब्राह्मण और क्षत्रियों की उत्पत्ति से भी जब वह ब्रह्म विभूतियुत कर्म करने में समर्थ न हो सका तब उसने वैश्यों को बनाया ये जो वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेवा और मरुत् आदि गणशः कहे जाने वाले देवता हैं (जो वैश्यवर्ग के हैं) उनकी उत्पत्ति की।

भजन, पूजन, पाठ में ही लगे रहते हैं। कुछ ऐसे होते हैं, जिन में सत्त्व गुण तो है, किन्तु रजोगुण की प्रबलता है, वह अपने शौर्य-तेज के कारण सब पर शासन करने लगते हैं। लोग उनके तेज के कारण उनकी आज्ञा मानने को, उनके शासन को सहन करने को विवश हो जाते हैं, कुछ ऐसे होते हैं, कि रजोगुण तो उनमें रहता ही है, किन्तु उसमे तमोगुण मिला रहता है, वे न विशेष पूजा पाठ के ही चक्कर मे पड़े रहते हैं, और न शौर्य तेज दिखाकर किसी में शासन ही करना चाहते हैं, उन्हे अपने काम से प्रयोजन खेती, व्यापार, पशु पालन द्वारा वे द्रव्य कमाते हैं, चौथे वे लोग होते हैं जिनमें काम करने को रजोगुण तो रहता ही है, किन्तु तमोगुण की प्रधानता रहती है। जो लोग पूजा-पाठ करते हैं, वे पूजा-पाठ करें, जो शासन करते हैं, वे शासक बने रहें, जिन्हें व्यापार, पशुपालन खेती से द्रव्य कमाना है वे कमावें। इन्हें तो सबकी सेवा करके सेवा द्वारा ही शरीर का पालन-पोषण करना है। इस प्रकार चारों प्रवृत्तियों के पुरुष प्रत्येक समाज मे होते रहे हैं, और आगे भी होते रहेंगे। समय के प्रभाव से इनके नाम रूपो के प्रकारों मे परिवर्तन होता रहता है। यह वर्ण व्यवस्था मनुष्यकृत नहीं हैं ईश्वरकृत है, अनादि है, सनातन है। इसका विकाश समयानुसार शनैः-शनैः हुआ।

ब्रह्मा के आदि सत्ययुग में जो सृष्टि आरम्भ हुई उसमे सभी सत्वगुण सम्पन्न व्यक्ति थे, उस समय सत्त्व का प्राबल्य था, धर्म की प्रधानता थी। उस समय एक ही वेद था प्रणव। ओंकार। और एक ही वर्ण था उसे 'हंस' कहो या ब्राह्मण कहो। वैसे चातुर्वर्ण्य व्यवस्था मूल में विद्यमान थी, किन्तु प्रकट क्रमशः शनैः-शनैः हुई। तब [illegible] कोई संग्रह करता था, न घर बनाता था, न किसी प्रकार का सामाजिक बन्धन ही था। उसी

समाज में कुछ महत्त्वकांक्षी हुए उन्होंने समाज पर शासन करना चाहा शौर्य प्रकट किया लोगों की सकटो से रक्षा की उनके इस रक्षण भाव से लोग उन्हे क्षत्रिय कहने लगे (क्षदति=रक्षति जनान्–अथवा क्षतात् त्रायते=इति=क्षत्रियः) उनके जो सन्तति हुई उनके जो वशज हुए वे सब क्षत्रिय कहलाये। उन्हीं में से जो पशुपालन, कृषि, वाणिज्य कार्यों में घुस गये प्रवेश कर गये। संग्रह करके धन को इधर उधर व्यापार में लगाने लगे वे वैश्य हो गये। जो लोग सेवा परायण हो गये वे शूद्र कहलाये। यद्यपि अकर्ता भगवान् ने ही इनकी सृष्टि की, किन्तु पूर्व सृष्टि में जिसके जैसे कर्म थे, जिसकी प्रकृति जिस गुण की ही थी, वैसी ही भगवान् ने इनकी सृष्टि कर दी। पहिले जब घोर सत्त्व था तब वर्ण एक था, जब पाप के कारण वर्णसंकरता आ जायगी, कलियुग में घोर तम बढ जायगा, तब भी सब वर्ण एक हो जायँगे। घोर सत्त्व की और घोर तम की स्थिति देखने में तो एक-सी ही लगती है किन्तु उसमें आकाश भूमि का अन्तर है। घोर सत्त्व की स्थिति ज्ञानमय है, घोर तम की स्थिति अज्ञानमय है।

ब्राह्मण और क्षत्रिय में कोई विशेष अन्तर पूर्व काल में नहीं था। दोनों ही सत्त्व सम्पन्न तेजस्वी होते थे। ब्राह्मण तप स्वाध्याय प्रवचन प्रधान होते थे, क्षत्रिय बल, नीति शासन प्रधान होते थे। ऋषिगण, क्षत्रिय कन्याओं से विवाह करते थे। दोनों ही अकरद होते थे ब्राह्मण तो असंग्रह त्याग के कारण और क्षत्रिय स्वयं कर लेते थे इस कारण। शेष वैश्य, शूद्र तथा अन्त्यज करद होते थे। प्रजा माने जाते थे। वैश्य समस्त प्रजाओं में श्रेष्ठ-प्रजा होते थे अतः वे श्रेष्ठि (सेठ) कहलाते थे, ब्राह्मण क्षत्रिय का सम्बन्ध मुख और बाहु के सदृश हैं। बाहु में न हो तो मुख में अन्न कौन दे। मुख में अन्न न जाय, तो समस्त देह का पालन कैसे हो। राष्ट्र

रूप देह के मान के लिये क्षत्रिय रूप बाहु, मुख रूप ब्राह्मण में अन्न डालते थे, जिससे समस्त राष्ट्र का-सम्पूर्ण शरीर पालन होता था। अतः अपने-अपने स्थान में दोनों ही श्रेष्ठ हैं। सृष्टि के प्रकरण में भगवती श्रुति चातुर्वर्ण्य उत्पत्ति के विषय में ब्राह्मण, क्षत्रिय दोनों को ही श्रेष्ठ बताती हैं। सामान्यतया देवताओं में वर्ण व्यवस्था नहीं होती, किन्तु श्रुति देवताओं में भी कर्मानुसार वर्णों को बताती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब भगवती श्रुति चातुर्वर्ण्योत्पत्ति के सम्बन्ध में बताती हुई कहती है—"सृष्टि के आरम्भ में यह अकेला ही ब्रह्म था। अकेले-अकेले कोई विभूति युक्त कार्य नहीं हुआ करता। बहुत से लोग हों, मिल-जुलकर बड़े-बड़े कार्य सम्पन्न कर लेते हैं। तब उसने ब्रह्म होने के कारण अग्नि बनाने के अनन्तर ज्ञान के लिये ब्राह्मण को बनाया। इसीलिये सबसे पहिले होने के कारण इन्हें अग्रजन्मा, अग्नि स्वरूप होने से वाडव, ब्रह्म से होने से ब्रह्म, ब्रह्मा या ब्राह्मण, कहते हैं।"

पिछले प्रकरण में मुख और हाथों के मन्थन से अग्नि की उत्पत्ति बतायी। अग्नि और ब्राह्मण की उत्पत्ति एक ही स्थान से-मुख से-है। इसलिये प्रजापति अपने को ब्राह्मण मानने लगा। किन्तु जैसा ब्रह्म वैसा ही ब्राह्मण इनसे विभूतियुक्त-वैभवशाली कार्य होने संभव नहीं। तब उन्होने अग्नि के अनन्तर इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, मेघ, यम, मृत्यु और ईशानादि रूप से क्षत्रिय जाति की रचना की। क्योंकि ये देवता अपने वर्ग की प्रजा पर शासन करते हैं, अतः देवताओं में इनकी क्षत्रिय संज्ञा है। विभूतियुक्त कार्य करने के निमित्त अतिशयता के साथ क्षत्र इस प्रशस्त रूप की रचना की। ब्राह्मण तो ब्रह्म का रूप ही हैं, अतः क्षत से-विपत्ति से-त्राण करने के कारण क्षत्रिय उत्कृष्ट वर्ण है इससे-

उत्कृष्ट कोई भी नहीं है। ब्राह्मणों ने क्षत्रियों को राजसूयादि यज्ञों में इतना अधिक महत्त्व दिया है, कि राजसूय यज्ञ में क्षत्रिय ऊपर पीठ पर बैठता है, ब्राह्मण नीचे बैठकर क्षत्रिय की उपासना करता है। उस समय पीठ पर बैठा हुआ क्षत्रिय नीचे बैठे हुए ब्राह्मण को पुकारता है—"ब्रह्मन्!" इसके उत्तर में ब्राह्मण कहता है—"राजन्! तुम ही ब्रह्म हो। (त्वं राजन् ब्रह्मासि।" इस प्रकार ब्राह्मण अपने नाम को अपने यश को क्षत्रिय में ही स्थापित कर देता है। उसे सर्वोत्कृष्ट पद प्रदान कर देता है।

शौनकजी ने कहा—"तब तो ब्रह्मन्! क्षत्रिय ब्राह्मणों से भी उत्कृष्ट हुआ।"

सूतजी ने हँसकर पूछा—"भगवन्! मैं एक बात पूछता हूँ, दाता श्रेष्ठ होता है या दान की हुई वस्तु श्रेष्ठ होती है?"

शौनकजी ने कहा—"दाता ही श्रेष्ठ है। दान की जाने वाली वस्तु तो उसके अधीन है।"

हँसकर सूतजी बोले—"इसी प्रकार ब्रह्मन्! सम्मानित व्यक्ति से सम्मान दाता श्रेष्ठ होता है। ब्राह्मण ने अपनी उदारता से अपना नाम तथा यश देकर क्षत्रिय को सम्मानित किया उसे ब्रह्म बताया। इससे ब्राह्मण का श्रेष्ठपना कहीं चला थोड़े ही गया। वास्तव में ब्राह्मण तो क्षत्रिय का जनक है, निर्माता है उसकी योनि है। इसलिये यद्यपि नीचे बैठा हुआ ब्राह्मण राजसूय यज्ञ में क्षत्रिय को ब्रह्म कहकर सम्मानित अवश्य करता है, फिर भी राजसूय के अन्त में क्षत्रिय उस ब्राह्मण के ही आकर अधीन होता है, उसी का आश्रय ग्रहण करता है। निज आसन से उतर कर ब्राह्मण को प्रणाम करता है, नीचे बैठकर उसकी द्रव्यादि से पूजा प्रतिष्ठा करता है। अतः सबसे आदि वर्ण ब्राह्मण ही वास्तव में श्रेष्ठ है। इसीलिये ब्राह्मण का कभी निरादर नहीं

करना चाहिये। जो क्षत्रिय अपने बल के अभिमान में भरकर ब्राह्मण की शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक हिंसा करता है। उसका बुरा सोचता है, उससे कटुवचन कहता है अथवा उसकी प्रत्यक्ष हिंसा ही कर डालता है। तो मानो वह अपने मूल पर ही कुठाराघात करता है, वह अपने कारण का ही विनाश करता है, अपनी योनि को ही नष्ट करता है। इसलिये ऐसा अधम नीच क्षत्रिय उसी प्रकार महापातकी होता है, जिस प्रकार पुरुष श्रेष्ठ की हिंसा करने से महापातकी होता है।

अब ब्राह्मण क्षत्रिय की उत्पत्ति बताकर वैश्य की उत्पत्ति बताते हैं। देवताओं अग्नि देव सब का उपकार करते हैं सबको जीवन अन्न देकर प्राण रक्षा करते हैं, इससे ब्राह्मण हैं। इन्द्र देवताओं पर शासन करते हैं, सभी सुरों के स्वामी हैं। वरुण जलचर जीवों के शासक हैं, सोम ब्राह्मणों के, पशुपति रुद्र अन्य दश रुद्रों के, मेघ विद्युत् आदि के, यम पितरों के, मृत्यु समस्त रोगों के शासक हैं अतः इन देवताओं की क्षत्रिय संज्ञा है। जब ब्राह्मण क्षत्रियों से भी वह पूर्ण विभूतियुक्त नहीं हुआ, तो उसने वसुओं को, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेवा और मरुत् आदि देवों को उत्पन्न किया क्योंकि धन के बिना कोई कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। पहिले वैश्यों के गण ही होते थे। गण-समूह-बनाकर देश विदेशों में द्रव्योपार्जन के निमित्त जाते थे। आजकल भी व्यापारियों के समूह होते हैं। ये जितने देवता गिनाये हैं, ये सब अकेले नहीं हैं। सबके पृथक् पृथक् गण हैं। जैसे आठ वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, त्रयोदश विश्वेदेवा और उनन्चास मरुत। इसलिये इन सबकी वैश्य संज्ञा है। अतः विभूतियुक्त कर्म करने के निमित्त-धनोपार्जन के लिये उस ब्रह्म ने वैश्यों की उत्पत्ति की।

फिर भी जैसा वह चाहता था विभूतिवान् नहीं हुआ।

क्योंकि ब्राह्मण ज्ञान दान दे सकता है, क्षत्रिय अपने शौर्य तेज से सबको शासन में रख सकता है, वैश्य धन दान कर सकता है, किन्तु जब तक कोई कार्य करने वाला न हो सेवा परायण न हो, तब तक कार्य सम्पन्न केसे होगा। अतः उसने कार्यों के सम्पादन द्वारा विभूतियुक्त कर्म करने के निमित्त शूद्र वर्ण की रचना की। देवताओं में पूषा ही शूद्र वर्ण है।

शौनकजी ने पूछा—"पूषा कौन ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! यह पृथ्वी ही पूषा है। पृथ्वी से बढ़कर सेवा परायण कौन होगा। सबको अपने ऊपर धारण करता है। पानी के लिए सदा मनुष्य इसे खोदते रहते हैं, फिर भी कुपित नहीं होती। सभी इसके ऊपर मलमूत्र त्याग करते हैं। सब को शान्ति भाव से सहती हुई सदा सबकी सेवा में ही सलग्न रहती है। अन्न, जल, फल, फूल, मूल, कन्द, वस्त्र सभी जीवनपयोगी वस्तुएँ सबको देती रहती है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! चारों वर्णों को उत्पन्न करके भी वह परब्रह्म विभूतियुक्त नहीं हुआ। क्योंकि इन सबका नियामक, इन सबको धारण करने वाला भी तो एक चाहिये। इसी लिये अब जैसे उन्होंने इन सबको धारण करने के निमित्त धर्म की उत्पत्ति की उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

मरुत् रुद्र, आदित्य, विश्वदेवहु, वसु भाई।
पुनि, विभूतियुत होन जाति वैश्यनि उपजाई॥
करम करन हित शूद्र भये पूषा यह पृथिवी।
पोषण सबको करति धरै सबकूँ यह धरिणी॥
रच्यो श्रेयरुत धरम पुनि, राजनि को हू नियन्ता।
सर्वोत्तम यह धरम है, नहिँ काहू को निहन्ता॥

धर्म की उत्पत्ति

(२०८)

स नैव व्यभवत्तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मं तदेतत्क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्त्यथो अबलीयान् बलीयांसमाशंसते धर्मेण यथा राज्ञैवं यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्तस्मात्सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीत्येतद्ध्येवैतदुभयं भवति ॥*

(बृ० उ० १ अ० ४ ब्रा० १४

छप्पय

धरम कह्यो उत्कृष्ट धरम की विजय सतत है।
निरबल धार्मिक होइ सबल कूँ जीति सकत है॥
धरम सत्य दुइ एक सत्यवादी धरमात्मा।
धरमात्मा कूँ कहें सत्यवादी पूतात्मा॥
चारि बरन करि ब्रह्म ईं, अग्नि रूप ब्राह्मण भयो।
तत् तत् बर्णनि नर सुरनि, अग्नि बिचौता है गयो॥

---

* इन सब को उत्पन्न करने पर भी वह विभूतियुक्त कर्म करने म असमर्थ रहा। उसने उस धर्म की रचना की जो अतिशयता से श्रेयो रूप है। क्षत्रिय का नियन्ता भी यह धर्म है। धर्म से पर कुछ भी नहीं है। क्योंकि धर्म के द्वारा अबलो पुरुष भी बलवान् को उसी प्रकार जीतने की इच्छा करता है, जिस प्रकार राजा की सहायता से बली शत्रु को।

जिसके द्वारा ये समस्त लोक धारण किये गये हैं, जो सबको धारण किये हुए है उसे धर्म कहते हैं। अथवा जो पुण्यात्मा पुरुषों द्वारा धारण किया गया है। उसे धर्म कहते हैं। (धरति लोकान्-इति धर्म्मः। अथवा ध्रियते पुण्यात्मभिरिति धर्मः) वह धर्म दो प्रकार का है, लोक धर्म और परलोक धर्म। परलोक धर्म के भी दो भेद हैं सुरलोक धर्म और मोक्ष धर्म। आहार, निद्रा, भय, मैथुन ये लोक धर्म हैं। इन्हें सिखाना नहीं पड़ता। जीव मात्र की इन धर्मों में स्वाभाविकी प्रवृत्ति है। ये धर्म पशु-पक्षी मनुष्य तथा जीवमात्र में समान रूप से हैं परलोक धर्म को मनुष्य ही कर सकता है, अन्य पशु-पक्षी आदि नहीं। पशुओं में जैसे ग्राह ग्रस्त गज ने भी कमल लेकर भगवान् की स्तुति की। हरिन बने हुए भरत जी ने भी मरते समय गंडकी नदी में अपना शरीर त्यागते समय यज्ञ स्वरूप धर्म के पति, धर्मानुष्ठान में निपुण, योग स्वरूप, सांख्य द्वारा प्रतिपाद्य, प्रकृति के अधीश्वर उन हरिनारायण के लिये नमस्कार है ऐसे धर्मयुक्त वचन कहे, तो ये गज तथा मृग पशुओं में अपवाद हैं। फिर इन्हें जो ऐसी बुद्धि हुई उसकी उपलब्धि पशु शरीरों से नहीं हुई थी। मनुष्य शरीर में ही उपासना करते-करते इन्हें ज्ञान हुआ था। किसी अपराध के कारण इन्हें पशु योनि में आना पड़ा। गजेन्द्र तो पूर्व जन्म में द्रविड़ देश के अधिपति राजर्षि इन्द्रद्युम्न थे। वे राज्य छोड़कर मलयपर्वत की गुफा में रहकर भगवान् की आराधना करते थे अगस्त्य मुनि का अभ्युत्थान न करने से उनके शाप से गज हो गये। राजर्षि भरत तो मुक्ति की सीढ़ी तक

सत्य ही धर्म है तभी तो सत्य भाषण करता को धर्म भाषण कर्ता कहते हैं। और धर्म भाषण करने वाले को सत्य भाषण कर्ता कहते हैं, क्योंकि दोनों ही एक है।

पहुँच गये थे। किन्तु जीवन में प्रारब्धवश अन्तराय उपस्थित हो गया। हरिन के मोह में पड़कर इन्हें हरिन योनि में जाना पड़ा। किन्तु इन दोनों को उपासना के बल से अपनी पूर्व जाति का स्मरण था, अपना पूर्व उपासना का ज्ञान था। अतः पशु योनि में भी पूर्वाभ्यास द्वारा इन्होंने धर्माचरण किया। भगवान् की स्तुति की। नहीं तो साधारण नियम यही है, कि पशु-पक्षी आदि मनुष्येतर योनियों में धर्म सम्पादन नहीं किया जा सकता। यह मनुष्य योनि की ही विशेषता है, कि इसमें धर्माचरण करके परलोक प्राप्त किया जा सकता है।

सुरलोक धर्म तो वह है, कि इस लोक में इष्टापूर्ति द्वारा धर्माचरण करके स्वर्ग में जाकर स्वर्गीय सुखों का उपभोग करे। किन्तु यह धर्म क्षयिष्णु धर्म है। पुण्य क्षीण होने पर पुनः पतन की संभावना है। दूसरा जो मोक्ष धर्म है वह अक्षयिष्णु, नित्य शाश्वत सनातन धर्म है, वह पर धाम वाला धर्म है, जहाँ जाकर संसार में पुनः लौटना नहीं पड़ता।

वास्तव में धर्म का नियन्त्रण न हो, तो मनुष्य में और पशुओं में अन्तर ही क्या? हमें धर्म ही बताता है, यह माता है, यह बहिन है, यह पुत्री है, यह पत्नी है, यह गम्या है यह अगम्या है। यह खाद्य है, यह अखाद्य है, यह पेय है, यह अपेय है। यह कर्त्तव्य है, यह अकर्त्तव्य है। अतः सच्चा साथी धर्म ही है। शरीर तो यहीं रह जाता है। पंचभूत पचभूतों में मिल जाते हैं। साथ में केवल धर्म ही जाता है। अतः श्रेयस्कामी पुरुषों को सदा धर्म का ही आचरण करना चाहिये। जहाँ धर्म है वहीं विजय है। रक्षित धर्म ही धर्मात्मा की सदा रक्षा करता है। उस धर्म की उत्पत्ति कैसे हुई। उसी बात को भगवती श्रुति बताती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब उसने देवताओं को बना

लिया, चारों वर्णों को उत्पन्न कर लिया, फिर भी वह प्रजापति ब्रह्म विभूति युक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ, तो उसने सोचा—अब त्रुटि क्या रह गयी। उसने विचारा यह क्षत्रिय अधिकार, तेज, ओज, शौर्य से युक्त है, इसका स्वभाव भी उग्र है, इसे कैसे वश में किया जाय, यह मनमानी करने लगेगा, तो सभी गुड़ गोबर हो जायगा, अतः उसने क्षत्रिय जाति को तथा समस्त मनुष्यों को नियन्त्रण में रखने के निमित्त अतिशयता से श्रेयो रूप धर्म की रचना की। इस धर्म के द्वारा उग्र क्षत्रिय भी नियन्त्रण में रखा जा सकता है, क्योंकि सबका शासक नियन्ता तो क्षत्रिय है और क्षत्रिय का भी नियन्ता यह धर्म है। इससे धर्म सर्वोत्कृष्ट नियन्ता है। धर्म से उत्कृष्ट कुछ भी नहीं है। इसी धर्म के आधार से निर्बल भी सबलों पर विजय प्राप्त कर सकते हैं।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! धर्म के सहारे से निर्बल पुरुष सबलों पर विजय कैसे प्राप्त कर सकेंगे?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! एक निर्बल मनुष्य है। उसकी स्त्री को, पुत्र को अथवा धन को कोई बलवान पुरुष बलपूर्वक उठा ले जाय, तो निर्बल पुरुष स्वयं तो उसके छुड़ाने में समर्थ नहीं हो सकता है, किन्तु यदि वह राजा की सहायता ले, तो राजा की सहायता से, प्रबल-से-प्रबल पुरुष को जीतने में समर्थ हो सकता है। उससे अपनी इष्ट वस्तु को पुनः प्राप्त कर सकता है।" उसी प्रकार उपासक धर्म के बल पर सब को जीत लेता है उस धर्म का स्वरूप क्या है? उसका स्वरूप है सत्य। सत्य से बढ़कर कोई परम धर्म नहीं। जो धर्म है वही सत्य है। सत्य और धर्म दो नहीं एक ही हैं। लोक में भी जो सत्यपरायण है, सत्य ही बोलने वाला है, तो सभी लोग यही कहते हैं—यह बड़ा

धर्मात्मा है। धर्म की ही बात करता है अधर्म की बात नहीं करता। अर्थात् सत्य बोलता है। इसी प्रकार जो धर्मात्मा है, सदा धर्माचरण करता है, उसके लिये लोक में पुरुष कहते हैं, यह सत्य का आचरण करता है सत्य बोलता है। इससे सिद्ध हुआ, कि सत्य और धर्म दोनों एक ही हे। सत्य धर्म ही का नाम हे।"

जेसे सत्य और धर्म एक है वैसे ही अग्नि और ब्राह्मण भी एक ही हैं।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी। अग्नि और ब्राह्मण एक कैसे हैं ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! इस बात को तो पहिले ही बता चुके हैं, कि उस परब्रह्म ने हाथों के द्वारा मथकर और मुख के द्वारा फूँक मार-मारकर—मुख से अग्नि को उत्पन्न किया। और ब्राह्मण भी मुख से ही हुआ। तो दोनों एक स्थान से उत्पन्न होने के कारण भाई-भाई हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र ये चार वर्ण हैं। इनको उत्पन्न करने पर ब्रह्म ही अग्नि रूप रखकर देवताओं में ब्राह्मण हुए। जैसे मनुष्यों में जो ब्राह्मण पुरुष ब्राह्मण स्त्री से उत्पन्न होगा। वह ब्राह्मण ही वर्ण का होगा। इसी प्रकार क्षत्रिय से क्षत्रिय, वैश्य से वैश्य और शूद्र से शूद्र ही होगा। इसी प्रकार अग्नि मे ही देवता सम्बन्धी कर्म करके मनुष्य स्वर्गादि लोकों को देवताओं के लोकों को प्राप्त कर सकते हैं। उसी प्रकार मनुष्यों में जो ब्राह्मण हैं उन्हें ही दान देकर अपने देवता, पितर तथा ऋषियों द्वारा प्रदत्त कर्म फलों को प्राप्त कर सकते हैं। क्योंकि विशेषकर वह परब्रह्म अग्नि रूप से और ब्राह्मण रूप से, दो ही रूपों से अभिव्यक्त हुआ है। इसलिये मनुष्यों को चाहिये, कि अग्नि तथा ब्राह्मणों द्वारा आत्मलोक का दर्शन करे।

शौनकजी ने पूछा—"आत्मलोक क्या ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! आत्मलोक अर्थात् आत्म साक्षात्कार आत्मज्ञान शोक मोहादि की परम निवृत्ति। मनुष्य का मुख्य ध्येय तो मोक्ष धर्म की प्राप्ति ही है। उसे ही प्राप्त करने का सतत प्रयत्न करना चाहिये। इसे जो प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करता। और इस लोक से आत्मलोक का दर्शन किये बिना ही मर जाता है इस शरीर को त्यागकर चला जाता है, उसका पालन वह अविदित लोक आत्मलोक नहीं करता। अर्थात् उसके शोक मोहादि की निवृत्ति नहीं होती है। जैसे वेद है उसको जब तक साङ्गोपाङ्ग-विधि सहित-अध्ययन न करोगे तब तक वह फल नहीं देगा। ऐसे ही कोई ज्योतिष्टोमादि कर्म है, जब तक उसका विधि विधान पूर्वक अनुष्ठान न करोगे, तब तक वह फल नहीं देने का। इसी प्रकार जिसने मोक्ष धर्म को-आत्मलोक को-नहीं जाना और उसके द्वारा बड़े-बड़े यज्ञादि विशिष्ट कर्म-अथवा वापी, कूप, तडाग आरामादि महान् पुण्य कर्म हो भी जायँ, तो भी अन्त में-पुण्य भोग के अनन्तर-उसका वह कर्म क्षीण हो ही जायगा। इसलिये सब कुछ करते हुए आत्मलोक की प्राप्ति का—मोक्ष धर्म के अनुष्ठान का—ही आत्मोपासना का ही अपना लक्ष्य रखना चाहिये। जो लोग आत्मोपासना को ही जीवन का लक्ष्य मानकर कर्म करते हैं, आत्मलोक की प्राप्ति के ही हेतु उपासना करते हैं, उनका कर्म की क्षीण नहीं होता। क्योंकि आत्मा नित्य है, सनातन है, शाश्वत है, कामधेनु है, इस आत्म से-उपासक-साधक पुरुष-जिस जिस वस्तु की कामना करता है, वह अवश्य ही उस-उस वस्तु को प्राप्त कर सकता है। अतः अपना लक्ष्य आत्म ज्ञान-मोक्ष प्राप्ति ही रखना चाहिये।"

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो ! इस प्रकार मैंने धर्म की उत्पत्ति

और आत्मोपासना की आवश्यकता बतायी। अब आगे जैसे कर्मों के सम्बन्ध में जो कुछ कहा जायगा उसे आप लोग आगे श्रवण करें।"

छप्पय

ब्राह्मण तैं हीं कर्म फलनि इच्छा चाहें सब।
अग्नि ब्रह्म द्वै रूप धरें सुर नरान भये तब॥
आत्म लोक नहिं लख्यो तज्यो तनु ते पछितावें।
बिना पढ़ें ज्यों वेद कर्म बिनु फल नहिं पावें॥
पुण्य कर्म बिनु मोक्ष हित, क्षीण होहिं पुनि परें भव।
कामधेनु सम आतमा, करि उपासना लहहिं सब॥

कर्मलोक-वैशिष्ट

[२०९]

अथ अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः स यज्जुहोति यद्यजते तेन देवानां लोकोऽथ यदनुब्रूते तेन ऋषीणामथ यत्पितृभ्यो निपृणाति यत्प्रजामिच्छते तेन पितॄणामथ यन्मनुष्यान्वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति तेन मनुष्याणाम् ॥*

(बृ० उ० १ अ० ४ ब्रा० १६ मं०)

छप्पय

नर-तन जीवनिलोक देवमख करि लोकहु सुर।
ब्रह्मयज्ञ स्वाध्याय पठन पाठन करि ऋषिपुर॥
पितृयज्ञ करि पितर तृप्त श्राद्धहु तरपन करि।
नरमख करि नरवास देइ भोजन निवास घर॥
भूतयज्ञ करि जीव सब, पशु पच्छिन आहार दै।
तिहि चाहैं अविनाश सब, पंच यज्ञ जो नित करै॥

---

* बताते हैं यह मनुष्य शरीर सबका भोग्य है। पंच महायज्ञों द्वारा यह नित्य जीवमात्रका उपकार करता है। हवन यज्ञ द्वारा देवताओं का, स्वध्याय द्वारा ऋषियों का, पिंड दान तर्पणादि तथा सन्तानेच्छा द्वारा पितरों का, आगत अतिथियों को ठहरने को वास स्थान, खाने को भोजन देकर मनुष्यों का लोक—मनुष्यों का भोग्य—होता है।

अन्य जीवों को मनुष्य वश में करके औरों का कार्य करा लेता है। यदि मनुष्य से इतर सभी जीवों को स्वतन्त्र कर दिया जाय, तो वे केवल अपना ही पेट पालन करेंगे। अपने ही निमित्त भोग सामग्रियों को जुटावेंगे। चूहा अपने ही लिये अपने बिल में अन्न एकत्रित करेगा। हरिन आदि जितने जंगली जीव हैं, अपने ही पेट को भरने का प्रयत्न करेंगे। वे अपने ही निर्वाह के लोक हैं। अर्थात् अपने ही आहार के लिये वे प्रयत्न करते हैं। एक यह मनुष्य ही ऐसा है, कि यह समस्त जीवों के उपकार के लिये प्रयत्नशील रहता है। यह जीवमात्र का अपने को ऋणी मानता है अतः सभी जीव इससे अपने भोग्य पदार्थ प्रतिदिन प्राप्त करते हैं। यह गृहस्थ धर्मावलम्बी धर्मपरायण द्विज नित्य पञ्च यज्ञों द्वारा समस्त जीवों का आहार प्रदान करता है। सबकी तृप्ति के लिये यह प्रयत्न करता है। इसीलिये यह समस्त जीवों का लोक है। सभी का भोग्य है।

सद्गृहस्थ के लिये पञ्च महायज्ञ नित्य नित्य करने का विधान है। ये पञ्च महायज्ञ कौन-कौन से हैं ? उनके नाम हैं—(१) देवयज्ञ, (२) ब्रह्मयज्ञ, (३) पितृयज्ञ, (४) नृयज्ञ और (५) भूतयज्ञ।

१—देवयज्ञ उसे कहते हैं जो देवताओं के निमित्त कर्म किया जाय। जैसे नित्य का अग्नि होत्र, उस अग्नि में देवताओं के निमित्त से आहुति देने पर इन्द्रादि देव प्रसन्न होते हैं। इसके द्वारा यह मनुष्य देवताओं का उपकार करता है। देवता इससे अपना भोग प्राप्त करते हैं। इस कारण यह पुरुष देवताओं का उपभोग्य है। देवताओं का लोक है।

२—दूसरा यज्ञ है ब्रह्मयज्ञ-ऋषियों का आहार स्वध्याय प्रवचन है। ऋषिगण इन्हीं कार्यों से प्रसन्न होते है। अतः

मनुष्य जो नित्य प्रति वेदों का स्वाध्याय पठन पाठन करता है। इसके द्वारा यह ऋषियों का उपकार करता है। ऋषियों को आहार प्रदान करता है। ऋषिगण स्वाध्याय प्रवचन द्वारा इससे अपना भोग प्राप्त करते हैं। अतः यह नर तनु ऋषियों का उप-भोग्य है, ऋषि लोक है।

३—तीसरा यज्ञ है पितृयज्ञ—पितर दो प्रकार के होते हैं। एक नित्य पितर जैसे यम, पूषा आदि। दूसरे अपने कुल के पिता, पितामह, प्रपितामह आदि। इन सभी प्रकार के पितरों को मनुष्य श्राद्ध द्वारा तिलोदक तर्पण द्वारा सन्तुष्ट करता है। पितरलोग श्राद्धान्न द्वारा इससे अपनी भोग्य वस्तुओं को प्राप्त करते हैं। इससे यह पितरों का उपभोग्य है पितरों का लोक है।

४—चौथा यज्ञ है नृयज्ञ—सद्गृहस्थ के द्वार पर जो भोजन निवास की इच्छा से हारे थके अतिथि आते हैं, उन्हें रहने को स्थान की, खाने को भोजनादि जो श्रद्धापूर्वक समुचित व्यवस्था करना है उसी का नाम नृयज्ञ है। मनुष्य मात्र को आश्रय देकर यह मनुष्यों का उपकार करता है, इससे यह मनुष्यों का उपभोग्य है मानवलोक है।

५ पाँचवा यज्ञ है भूतयज्ञ—कौए को, कुत्ते को, गौ को, तथा चींटी से लेकर हाथी तक सभी जीवों को अपनी शक्ति के अनुसार नित्य कुछ न-कुछ उनके अनुकूल आहार देना यही भूत यज्ञ है। इस भूत यज्ञ को करके मनुष्य सभी जीवों का उपकार करता है। गौ घास पाकर, कुत्ता, बिल्ली, कौआ टुकड़ा पाकर तृप्त होते हैं, अतः यह मानव शरीर सभी जीवों का उपभोग्य है। सभी भूतों का लोक है। इस प्रकार पञ्च यज्ञ करके यह मनुष्य प्राणिमात्र का उपकार करता है। जो मनुष्य नित्य पञ्चयज्ञ न

करके केवल अपने ही पेट भरने का प्रयत्न करता है, उसमें और पशुओं में अन्तर ही क्या है ?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यह जो कर्माधिकारी गृहस्थ धर्मावलम्बी जीव है, यह केवल अपना ही पेट नहीं भरता। यह सभी जीवों के लिये कुछ-न-कुछ कर्म नित्य करता है। यह सभी का भोग्य है। सभी का लोक है। अर्थात सभी का जन है। यह सार्वजनिक सम्पत्ति है। इस पर सभी का अधिकार है, सभी इससे अपना-अपना भाग पाते हैं। देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य तथा प्राणी मात्र इससे आशा रखते हैं। यह सभी को नित्य कुछ-न-कुछ देकर तृप्त करता है।

शौनकजी ने कहा—"देवताओं को क्या देकर यह तृप्त करता है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! द्विजाति गृही के लिये नित्य अग्नि होत्र का विधान है। वह सायं प्रातः नित्य ही अग्नि में हवन करता है, वह यज्ञ हवन द्वारा देवताओं का लोक होता है अर्थात् अग्निहोत्र द्वारा देवता इससे अपना भोग प्राप्त करते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"ऋषियों को यह क्या देकर नित्य तृप्ति किया करता है ?"

सूतजी ने कहा—"ऋषिगण स्वाध्याय प्रवचन प्रेमी होते हैं। यह जो स्वाध्याय-पठन-पाठन करता है इससे ऋषियों को आहार प्रदान करता है, इस कारण ऋषियों की प्रिय वस्तु देने से यह उनका भोग्य है।

शौनकजी ने पूछा—"पितरों को यह क्या देकर तृप्त करता है ?"

सूतजी ने कहा—"पर्वों पर श्राद्ध करके, नित्य ही तिलोदक से तर्पण करके तथा सन्तान उत्पन्न करके पितरों को प्रसन्न

करता है। पितर यही चाहते हैं हमारे वंश की परम्परा बनी रहे। हमारे वंश का नाश न हो, जिससे हमें पिंडोदक मिलता रहे। सन्तान उत्पन्न करके तथा पितरों को श्राद्ध तर्पण करके यह उनका भोग्य होता है। उनका उपकार करता है।"

शौनकजी ने पूछा—"मनुष्यों को यह क्या देकर तृप्त करता है। उनका भोग्य कैसे है ?"

सूतजी ने कहा—"जो अतिथि इसके घर पर आ जाते हैं, उन्हें भोजन, देकर निवास का स्थान देकर यह उनका उपकार करता है, अतः यह मनुष्यों का उपभोग्य है।"

शौनकजी ने पूछा—"समस्त भूतों को क्या देकर यह तृप्त करता है ?"

सूतजी ने कहा—"भोजन से पहिले यह काकवलि, श्वानवलि निकलता है। गौ, बैल, घोड़ा आदि पशुओं को तृण घास देता है। चीटियों और कछुए आदि को कुछ खाने को देता है। इस प्रकार शक्ति के अनुसार यह सभी जीवों को बलि प्रदान करके उनका उपकार करता है। इसलिये सभी को कुछ-न-कुछ देकर उनका आशीर्वाद प्राप्त करता है।"

शौनकजी ने पूछा—"इन सबको देने का प्रतिफल क्या होता है ?"

सूतजी ने कहा—"ये सभी जीव चाहते हैं, हम सदा बने रहें। मरना कोई नहीं चाहता। अपने शरीर का सभी अविनाश चाहते हैं। जब इन्हें जो नित्य सन्तुष्ट करता है नित्य वलि प्रदान करता है, तो ये सभी जीव इसे इसका अविनाश चाहते हैं, इसे दीर्घजीवी होने का मन से आशीर्वाद देते हैं। अतः देवयज्ञ, ऋषियज्ञ, पितृयज्ञ, नृयज्ञ और भूतयज्ञ इन पाँचों यज्ञों को मनुष्य को अवश्य करना चाहिये। पञ्च महायज्ञ

प्रकरण में इन कर्मों की विशेष रूप से अवश्यकर्त्तव्यता का वर्णन है और इसकी विशेष मीमांसा अवदान प्रकरण में की गयी है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! यह जीव कर्म क्यों करता है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! पूर्वजन्म की वासनाओं के अनुसार ही इसके मन में कामनायें उत्पन्न होती हैं। ये कामनायें ही विवश होकर मनुष्य से कर्म कराती हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! मुख्य कामनायें के प्रकार की होती हैं?"

सूतजी ने कहा—"मुख्य कामनायें पाँच प्रकार की हैं। मेरा शरीर बना रहे, मेरे स्त्री हो, मेरे पुत्र हो, मेरे धन हो और मेरे द्वारा कर्म हो। इन पाँच कामनाओं के वशीभूत होकर ही प्राणी कर्मों में प्रवृत्त होता है।"

पहिले यह शरीर अकेला ही होता है। गुरुकुल से पढ़कर ब्रह्मचारी आता है, तो उसका एकमात्र शरीर ही रहता है। फिर पूर्वजन्म की वासनानुसार उसे कर्म करने की कामना होती है। वह चाहता है, मैं वैदिक यज्ञ यागादि कर्म करूँ। किन्तु कर्म एकाकी होते नहीं। तब उसकी कामना होती है, धर्म काम करने के लिये मुझे धर्मपत्नी की प्राप्ति हो तो विवाह करके एक से दो हो जाते हैं। फिर इच्छा होती है–मैं अपने स्वरूप को नये रूप में उत्पन्न होकर देखूँ। तो वही वीर्य रूप से पत्नी के उदर में प्रवेश करता है। और नौ महीने के पश्चात् पुत्र रूप से स्वयं ही प्रकट हो जाता है। उस रूप से यह पितरों का उद्धारक होता है। उन्हें पुं नामक नरकों से तारता है, अतः उसकी अपनी ही नयी कृति का नाम पुत्र हो जाता है। (आत्मा वै पुत्र नामासि)।

अपनी ही स्त्री में अपने आप उत्पन्न होता है। अतः पुत्रवती का नाम जाया हो जाता है। (तज्जाया जाया भवति तदस्या जायते पुनः) तो अब तक तो आत्मा (शरीर) स्त्री दो थे अब एक तीसरा पुत्र हो गया। तब इच्छा होती है, मैं यज्ञादि कर्म करूँ, किन्तु कर्म धन के बिना होते नहीं। तब धन की इच्छा करता है। धन आने पर कर्म में प्रवृत्त होता है। बस, देह, स्त्री, पुत्र, धन और कर्म इतनी ही कामनायें हैं। इन्हीं में समस्त कामनाओं का समावेश हो जाता है। इच्छा करने पर भी इनसे अधिक कोई प्राप्त कर नहीं सकता। अब भी अकेला पुरुष इन्हीं कामनाओं को करता है। विवाह नहीं हुआ तो स्त्री की, संतान की, धन की और कर्म करने की कामना करते हैं, इन सबको चाहता है। विवाह होने पर सन्तान की कामना अवश्य होती है। स्त्री पुत्र वाले पुरुष को धन की कामना अनिवार्य है और धन आने पर कर्म करने की कामना स्वाभाविक है। इन पाँचों में से एक भी प्राप्त न हो, तब तक वह अपने को अपूर्ण ही मानता है। शरीर स्वस्थ, कामयोग्य न हो, तो भी अपूर्ण है। शरीर स्वस्थ है, किन्तु स्त्री नहीं तो भी अपूर्ण है, स्त्री है किन्तु सन्तान नहीं, तो भी अपूर्ण है। सन्तानें हैं किन्तु धन नहीं, तो भी अपूर्ण है। धन है किन्तु उसके द्वारा कर्म नहीं होते, तो भी अपूर्ण हैं।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! मान लो, किसी को तीव्र वैराग्य है, वह विवाह करना नहीं चाहता। उसे ये पाँचों वस्तुएँ प्राप्त नहीं, तो क्या वह अपूर्ण ही बना रहेगा ? उसकी पूर्णता कैसे सिद्ध होगी ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! उसको बिना विवाह के भी पूर्णता प्राप्त हो सकती है, यदि सच्चा वैराग्य हो तो ?"

जितने भी पशु हैं–जीव हैं–सभी पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पंचभूतों द्वारा निर्मित हैं, अतः ये सब पांक्त हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"वैसे तो पुरुष भी पशु है, किन्तु अन्य पशुओं से इसमें विशेषता है। अन्य पशु परमार्थिक साधन करने में समर्थ नहीं हो सकते। यह मनुष्य पशु ही परमार्थिक साधन कर सकता है, इसलिये इस मनुष्य का दूसरा नाम साधक भी है। यह साधक पुरुष पांक्त किस प्रकार है ?"

सूतजी ने कहा—"मुनिवर! साधक पुरुष–(१) मन, (२) वाणी, (३) प्राण, (४) नेत्र और (५) श्रोत्र इन पाँच वस्तुओं से श्रेय कल्याण कर सकता है, इसीलिये यह साधक पुरुष भी पांक्त है।"

शौनकजी ने कहा—"आपने इस स्थावर जङ्गम चराचर को पाक्त किस प्रकार बताया ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! समस्त चराचर जगत, पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पंचभूतों से निर्मित है। इसीलिये इसे प्रपञ्च या पांक्त कहते हैं। यह जो भी कुछ है सब प्रपञ्च है। सब पांक्त है।"

शौनकजी ने पूछा—"इस पांक्त उपासना का फल क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! जो इस सबको पांक्त रूप से भली भाँति निष्ठापूर्वक जान लेता है। उसके लिये फिर कुछ भी जानना अवशेष नहीं रहता। वह सभी को जान लेता है। सभी को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार मैंने यह पञ्च यज्ञों द्वारा मनुष्य किस प्रकार सभी जीवों का भोग्य है, तथा कामना के अनुसार कैसे सब पांक्त हैं इस विषय का वर्णन किया। अब आगे पंचम ब्राह्मण में जैसे अन्न की उत्पत्ति और उसकी उपासना आदि का वर्णन होगा उसे मैं आप से आगे कहूँगा।

"आशा है आप इस विषय को समाहित चित्त होकर श्रवण करने की महती कृपा करेंगे।"

छप्पय

(१)

पुरुष अकेलो हतो कामिनी करी कामना।
पुत्र, वित्त पुनि कर्म मनुज की इती वासना॥
जो विराग युत पुरुष आतमा मन वाणी ही।
प्राण कहे सन्तान नेत्र है मानुष धन ही॥
दैववित्त श्रोत्रहि कह्यो, आतमा ताको कर्म है।
प्रवृत्ति बीज ये कर्म हैं, यह सब जग ई पांक है॥

(२)

आत्मा, जाया, पुत्र, वित्त अरु कर्म पाक मख।
पृथिवी, जल, अरु तेज वायु आकाश पाक पशु॥
मन, वाणी, अरु प्राण, नेत्र अरु श्रोत्र पांक नर।
पंचभूत तैं बन्यो पांक जग जंगम थावर॥
जो जानत सब पांक हैं, पंचभूत निर्मित जगत।
प्राप्त करै वह सबहि कूँ, आत्म भाव सब में सतत॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के प्रथम अध्याय में
चतुर्थ ब्राह्मण समाप्त।

अन्नोत्पत्ति--विवेचन

(२१०)

यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाजनयत्पिता। एकमस्य साधारणं द्वे देवानभाजयत्। त्रीण्यात्मनेऽकुरुत पशुभ्य एकं प्रायच्छत्। तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न ॥*

(बृ० उ० १ अ० ५ ब्रा० १ मं० ६)

छप्पय

पिता अन्न करि सात एक साधारन कीन्हों।
देवनि कूँ द्वै दयो तीनि कूँ निज हित लीन्हों॥
एक पशुनि कूँ दयो चराचर माहिँ प्रतिष्ठित।
क्षीण अन्न क्यों नहीं? सतत ताकूँ सब खावत॥
जानत अक्षय भाव जो, अन्न मुखहिँ भक्षन करत।
प्राप्त सुरनि कूँ होइ सो, अमृत उपजीवी रहत॥

---

* प्रजापति ब्रह्मा ने मेधा और तपस्या द्वारा जिन सात अन्नों की उत्पत्ति की। उनमें से एक अन्न तो सर्व साधारण है। दो अन्न उन्होंने देवताओं को प्रदान कर दिये। तीन अन्नों को उन्होंने निजी रूप में अपने लिये रख लिया। इस प्रकार ६ हुए। एक पशुओं के लिये दिया। उस अन्न में सभी प्रतिष्ठित हैं। जो साँस लेते हैं और जो साँस नहीं लेते।

जो जिस श्रेणी का पुरुष होता है, उसका अन्न भी उसी श्रेणी का होता है। धनिकों का भोजन दूसरे प्रकार का होता है, निर्धनों का दूसरे प्रकार का। पशुओं का अन्न तृण घास भिन्न प्रकार का। देवताओं का अन्न-अमृत अन्य ही प्रकार का है। पितरों का अन्न-कव्य-अन्य भाँति का है। कहने का भाव यही है, कि जैसा प्राणी है, उसकी स्थिति के अनुसार उसका अन्न भी उसी के अनुरूप होता है।

एक ही अन्न है, वह देश काल तथा पात्र के खाने के प्रकार के कारण वही अमृत भी हो जाता है। वही विष भी बन जाता है। वही पुण्यप्रद होता है, वही पाप प्रद भी हो जाता है। जैसे हमने दूध की सुन्दर खीर बनायी किन्तु ऐसे प्रदेश स्मशानादि में बनायी जो अशुद्ध है, तो वह दूध का पदार्थ भी विषयुक्त बन जायगा। खीर को ताँबे के पात्र में बनाया। ताँबे के में ही रखा तो वह दूध ताँबे के संसर्ग में विष हो जायगा। सुन्दर खीर बनायी किन्तु न उससे देवता पितरों का पूजन किया और न उसे भगवान को ही अर्पण किया, वैसे ही स्वाद के लिये-स्वार्थवश-पेट भरने के लिये गटगट खा गये। तो वह खीर नहीं खायी प्रत्यक्ष पाप को खाया। वह अमृत नहीं विष का पान किया।

इसके विपरीत सुन्दर स्वच्छ लिपे पुते पवित्र प्रदेश में, सुन्दर पीतल के पात्र में, सुयोग्य पवित्र वेदज्ञ ब्राह्मण द्वारा बनायी गई, भगवान् का भोग लगाकर हरी-हरी मञ्जरी डालकर उसमें से देवता तथा पितरों का भाग निकालकर अतिथि, पूज्य, वृद्ध, गर्भिणी, आश्रित पुरुषों को तृप्त करके जो उस बचे हुए शेष अन्न को भक्षण करता है वह नित्य नित्य अमृत ही भक्षण करता है। अतः अन्न का उपयोग केवल अपने ही स्वार्थ के निमित्त न करना चाहिये। परमार्थ के निमित्त, सबका भाग निकालकर-शेष

अन्न को प्रभु का प्रसाद समझकर प्रेम पूर्वक पवित्रता के साथ पाना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब अन्न की उत्पत्ति और उपासना को बताते हैं। प्रजापति ब्रह्माजी ने मेधा और तप के द्वारा विज्ञान तथा कर्म के द्वारा–सात प्रकार के अन्नों की रचना की। उनमें से एक अन्न तो सर्वसाधारण जनों के निमित्त उत्पन्न किया। जैसे धान्य आदि। यह सभी प्राणियों द्वारा उपभोग्य है। दो अन्न उसने देवताओं के निमित्त वितरित कर दिये। इस प्रकार तीन अन्न तो ये हो गये। अब बचे चार। सो उनमें से तीन अन्न प्रजापति ने अपने लिये रख लिये। अब शेष रह गया एक अन्न। सो उस अन्न को उन्होंने पशुओं के निमित्त दे दिया। पशुओं से यहाँ अभिप्राय चराचर जीवमात्र से हैं। जो स्वास लेते हैं जैसे मनुष्य, गौ, बकरा, भेड़ा, घोड़ा, खच्चर, गदहा आदि-आदि और जो स्वास नहीं लेते जैसे वृक्षादि हैं। वह अन्न चर-अचर दोनों ही प्रकार के जीवों के निमित्त है। इस प्रकार सातों प्रकार के अन्नों को भिन्न-भिन्न प्राणियों में बाँट दिया। वे प्राणी इस अन्न को खा-खाकर अपने जीवन का निर्वाह करते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है, कि ये अन्न प्राणियों द्वारा नित्य ही खाये जाते हैं, सदा सर्वदा सभी प्राणी सतत इनका भोजन करते हैं, फिर भी ये बने ही रहते हैं, सर्वदा खाये जाने पर भी ये क्षीण क्यों नहीं होते?

इससे पता चलता है, यह अन्न अक्षय है। जो इसके इस अक्षय भाव को जानकर मुखरूप प्रतीक के द्वारा अन्न का भक्षण करता है, वह अन्न अमृत होकर देवताओं को प्राप्त होता है। वह मानों अन्न न खाकर निरन्तर अमृत ही पान करता है, अमृतोपजीवी ही होता है।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! इस विषय को स्पष्ट समझाइये। सात अन्न कौन-कौन से हैं? मुख से खाया हुआ अमृत कैसे हो जाता है?"

यह सुनकर सूतजी ने कहा—"भगवन्! भगवती श्रुति ने ही अगले मन्त्र में इसका स्पष्टी करण किया है। अब जिस प्रकार इस विषय का स्पष्टीकरण किया है। उसे बताता हूँ।"

श्रुति कहती है, पिता ने सात अन्नों को मेधा और तप से उत्पन्न किया। इसमें पिता तो वे परब्रह्म आदि पुरुष ही हैं, उन आदि पुरुष की जब एक से बहुत होने की इच्छा हुई अर्थात् वे सृष्टि के उन्मुख हुए। सृष्टि करने को उद्यत हुए, तो उन्होंने भोग्य भोक्तृ रूप अन्न को उत्पन्न किया।"

शौनकजी ने पूछा—"मेधा और तप से अन्न को उत्पन्न किया यहाँ मेधा तप से तात्पर्य क्या है?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! मेधा और धी वैसे तो एक ही हैं, किन्तु मेधा में और धी में थोड़ा अन्तर है। मेधा तो वार्ता को धारण करने वाली बुद्धि का नाम है। जो सभी बहु श्रुति विषय को आत्मसात कर ले–धारण कर ले (मेधते सङ्गच्छते अस्याम्= इति मेधा धारणाशक्ति युक्ता धीर्मेधा) और धी या बुद्धि चिन्तन करने को कहते हैं अन्तःकरण की जो निश्चयात्मिका वृत्ति है, उसका नाम है। और उसका ज्ञान ही तप है। अर्थात् उन्होंने अपनी पूर्व कल्प की मेधा और ज्ञान द्वारा–विज्ञान और कर्म द्वारा–सात अन्नों को–सात भोग्य पदार्थों को–पैदा किया। उनमें पहिला तो लोक में सुप्रसिद्ध साधारण अन्न है ही। चावल, गेहूँ, जौ आदि-आदि। इसे मनुष्य खाते हैं, इसी को देवता पितर ऋषि आदि को अर्पण करते हैं। जो पुरुष इसको अपने ही लिये

उपासना करता है। वह पाप से दूर नहीं होता। क्योंकि यह अन्न मिश्र है।"

शौनकजी ने पूछा—"अपने लिये उपासना का क्या अभिप्राय है ? मिश्र किसे कहते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"जो अन्न को केवल अपने ही निमित्त बनाकर खा लेता है, वह अन्न नहीं खाता पाप ही खाता है। इसलिये कि यह अन्न तो समस्त प्राणियों का मिश्रित है सम्मिलित है। इस अन्न में तो सभी जीव जन्तुओं का अधिकार है। अतः इसे देवताओं को, ऋषियों को, पितरों को, आगत अतिथियों को और थोड़ा-थोड़ा सभी जीवों को बाँटकर खाना चाहिये यह तो पहिला साधारण अन्न हुआ।

अब दो अन्न देवताओं को वितरित किये इसका तात्पर्य यह है, कि जो हुत प्रहुत है। हवन और बलि वैश्वदेव ये देवताओं के अन्न हैं, किसी-किसी ऋषि का मत है, कि दर्श जो अमावस्या को पितरों के निमित्त यज्ञ किया जाता है और पूर्णिमा को जो देवताओं के निमित्त यज्ञ किया जाता है ये दोनों दर्श और पूर्णमास यज्ञ देवताओं के अन्न हैं। इसलिये जो किसी कामना से की गयी काम्य इष्टियाँ हैं उनमें प्रवृत्त न हो। इस प्रकार तीन अन्न तो हो गये।

अब तीन अन्न अपने लिये कि ये वे तीन अन्न कौन हैं, इसकी व्याख्या आगे करेंगे। हाँ एक अन्न पशुओं को दिया। वह कौन-सा है। वह है दुग्ध। यहाँ पशु शब्द से जीव मात्र का तात्पर्य है। मनुष्य तथा पशु सर्व प्रथम दूध के ही आश्रय से जीते हैं। सबके बच्चे पैदा होते ही माता के दूध को ही पीकर रहते हैं। वर्णाश्रमी द्विजों के जब बच्चा होता है, तो नाल छेदन के पूर्व पिता बच्चे का जातकर्म संस्कार करता है। यह सोलह

संस्कारों में से उत्पन्न होने वाले संस्कारों में से प्रथम संस्कार है। उस समय पिता बच्चे को सुवर्ण की सलाका से घृत चटाता है। चार व्याहृतियों से चार बार शहद मिला घृत या केवल घृत ही इन मन्त्रों को पढ़कर चटाता है। (भूस्त्वयि दधामि, भुवस्त्वयि दधामि, स्वस्त्वयि दधामि, भूर्भुवःस्व सर्वं त्वयि दधामि) इससे बालक मेधावी होता है, इस कर्म को मेधाजनन कहते हैं। जहाँ ये वस्तुएँ उपलब्ध न हों या कर न सके, तो घृत के स्थान में माता का स्तन पान ही करावें। बछड़े को तो सर्व प्रथम माता का स्तन पान ही कराते हैं। किसी की गौ के बच्चा होता है, तो लोग पूछते हैं—"बच्चा कितने दिन का है ?" तो गौ का स्वामी कहता है—"अजी, अभी तो तृण को घास को छूता भी नहीं अभी तो केवल दूध पर ही रहता है।"

जितने भी जो स्वास लेने वाले मनुष्य, गौ आदि पशु हैं या ो बिना स्वास प्रस्वास वाले वृक्ष आदि हैं, वे सब दुग्ध में ही ातिष्ठित हैं अर्थात् दुग्ध सभी का आहार है। इसलिये दुग्ध को बड़ी महिमा है।

ऋषिगण जो ऐसा कहते हैं, कि जो एक वर्ष तक दुग्ध से हवन करता है। वह अपमृत्यु को जीत लेता है। हमारा कहना तो यह है कि दुग्ध का इतना भारी माहात्म्य है कि मनुष्य जिस दिन दुग्ध से हवन करता है उसी ही दिन अपमृत्यु को जीत लेता है। अतः श्रेयस्कामी को दुग्ध की बनी खीर से ही हवन करना चाहिये। इस प्रकार जो खीर से हवन करके देवताओं की उपासना करता है, वह मानों देवताओं को सम्पूर्ण खाद्यान्न प्रदान करने वाला होता है।

शौनकजी ने पूछा—"पिछले मन्त्र में जो पूछा गया था, कि

सर्वदा भक्षण करने पर भी अन्न क्षीण क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन ! अन्न ब्रह्म स्वरूप है, रस विष्णु स्वरूप है और महेश्वर ही खाने वाले हैं। जब भोक्ता पुरुष अविनाशी है। तो उसका भक्ष्य भी अमर है वही उस अन्न को बार-बार उत्पन्न कर देता है। इसीलिये सब प्राणियों द्वारा बार-बार खाये जाने पर भी अन्न का क्षय नहीं होता।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! पिछले मन्त्र में जो यह कहा गया कि जो पुरुष इस अन्न को अक्षय भाव को जानता है, तो अक्षय भाव को जानने से क्या तात्पर्य है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! यह जो अन्न को खाने वाला अविनाशी पुरुष है, वह चुप नहीं बैठा रहता। वह पुरुषार्थ करता रहता है। वह इस अन्न को ज्ञान और कर्म द्वारा-संकल्प और बुद्धि द्वारा--निरन्तर इस अन्न को उत्पन्न करता रहता है। यदि अविनाशी पुरुष अन्न को प्रतिदिन उत्पन्न न करे, तब यह अन्न अवश्य ही क्षीण हो जाय। यही इसके अक्षय होने का भाव है। इस भाव को जो जानता है, वह भी अक्षय हो जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"पिछले मन्त्र में जो यह कहा गया, कि अन्न के जो अक्षय भाव को जानता है वह प्रतीक के द्वारा अन्न को भक्षण करता है। वह प्रतीक क्या ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! प्रतीक उसे कहते हैं जिसके द्वारा यथार्थ वस्तु की प्राप्ति हो जैसे हम पितरों को भोजन कराते हैं। पितर तो आते नहीं उनके प्रतीक-प्रतिनिधि रूप में-अङ्गरूप में--ब्राह्मणों को भोजन कराते हैं, तो ब्राह्मण पितरों के प्रतीक हैं। कोई पति है, उसकी प्राणप्रिया सती साध्वी स्त्री है। पति को बाहर जाना है। पत्नी कहती है—आपकी सेवा के बिना मैं रह

नहीं सकती। तब पति उसे अपनी प्रतिमा देकर कहता है-तब तक इसकी श्रद्धा से सेवा करना। वह प्रतिमा प्रतीक है। इसी प्रकार अन्न का भोक्ता तो अविनाशी है, किन्तु वह अविनाशी स्वतः खाने नहीं आता। अतः उसका प्रतीक-मुख है। मुख के द्वारा मानों वह अविनाशी प्रजापति ही खाता है। यही प्रतीक द्वारा भक्षण करने का भाव है।"

शौनकजी ने पूछा—"प्रथम मन्त्र मे जो यह कहा गया है, कि ऐसा साधक देवताओं को प्राप्त होता है, वह अमृतोपजीवी होता है। इसका क्या भाव है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्। जो अन्न के अक्षय भाव को जानकर अविनाशी को ही भोक्ता मानकर मुख को उसका प्रतीक समझकर अन्न का भक्षण करता है, वह न तो मनुष्य ही साधारण मनुष्य है और न उसके द्वारा खाया हुआ अन्न ही साधारण अन्न है। वह मनुष्य नहीं देवता है उसका खाया अन्न साधारण अन्न नहीं अमृत है। इसका कोई विलक्षण अर्थ नहीं। स्पष्ट अर्थ है। इस उपासना का फल श्रुति हैं। प्रशसामात्र है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी। परम पिता प्रजापति द्वारा आपने सात अन्नों की उत्पत्ति बतायी। उनमें से साधारण अन्न मनुष्यों के लिये। हुत प्रहुत अथवा दर्श पूर्णमास ये दो अन्य देवताओं के लिये तथा एक दुग्ध रूपी अन्न पशुओं-जीवों-के लिये आपने बताये। ये चार ही अन्न हुए। अब तीन अन्न जो प्रजापति ने अपने लिये रखे वे तीन कौन-कौन से अन्न हैं। कृपा करके उनकी व्याख्या और कीजिये। श्रुति ने एक साधारण अन्न दो देवताओं के अन्नो की व्याख्या करके तुरन्त सातवें पशु अन्न-दुग्ध-की व्याख्या कर दी। बीच में प्रजापति ने जो तीन अन्न अपने लिये रखे उनकी व्याख्या क्यों नहीं की ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! एक लुहार है, उसके पास एक आदमी गया, उसने कहा—"मुझे एक बड़ा कड़ाह बना दो।" लुहार कड़ाह बनाने का सामान जुटा ही रहा था। तभी एक आदमी ने उससे कहा—"मुझे एक सूची--सुई--बना दो।" लुहार ने तुरन्त और काम छोड़कर पहिले सूची बनाकर उसे दे दी। तब कड़ाह वाले ने कहा—मैं पहिले आया था, मेरा काम छोड़कर तुमने पीछे आये हुए उस आदमी का काम पहिले क्यों कर दिया।"

इस पर लुहार ने कहा—"तुम्हारा कार्य बड़ा था वह देर में सम्पन्न होने वाला था उसका काम छोटा था--सरल था-शीघ्र सम्पन्न होने वाला था। इसलिये पहिले उसे निबटाकर अब आपके बड़े विस्तृत कार्य में लगता हूँ। इसे 'सूची कटाह न्याय' कहते हैं। इसी न्याय से चार अन्नों के विषय सरल थे, छोटे थे, अतः श्रुति ने पहिले उन्हें निपटा दिया। यह जो प्रजापति के तीन अन्नों वाला विषय है वह विस्तृत है। इसका विस्तार के साथ आध्यात्मिक विवेचन करना है, अतः पहिले चार को निबटा कर अब इन तीन का जैसे श्रुति गंभीरता के साथ विचार करेगी, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

(१)

इक साधारन अन्न मोहि जो, गेहूँ आदी।
मिश्रित, तातैं बाँटि खाउ नहिं अघी प्रमादी॥
दर्श-पूर्ण-हुत प्रहुत-अन्न द्वै सुरनि पहार्ये।
दुग्ध पशुनि को अन्न प्रथम शिशु ताही खावें॥
अविनाशी पुनि-पुनि करैं, तातैं अक्षय अन्न यह।
भोक्ता, कर्ता अन्न कूँ, अक्षय जानत सिद्ध वह॥

(२)

पुरुष सतत क्षय रहित भाव अक्षय जो जानत।
ज्ञान करन तैं वही अन्न कूँ नित उपजावत॥
यदि न करै उत्पन्न अन्न पुनि क्षय ह्वै जावै।
मुख प्रतीत तैं खाइ अन्न देवनि कूँ जावै॥
अन्न ब्रह्म कूँ मानि कैं, मुख प्रतीक जानै पुरुष।
नित्य अमृत भक्षण करै, सब अम्मृत होवै अवसि॥

प्रजापति के तीन अन्नों का अर्थ (१)

[२११]

त्रयो लोका एत एव वागेवायं लोको
मनोऽन्तरिक्षलोकः प्राणोऽसौ लोकः ॥*
(बृ० उ० १ अ० ५ ब्रा० ४ म०)

छप्पय

मन बानी, अरु प्रान पिता निज अन्न बनाये।
मनतैं दसै सुन्यै परस बिनु लखे दिखाये॥
संशय, श्रद्धा, काम, अश्रद्धा, लज्जा, धृति भय।
बुद्धि, अधृति, संकल्प सबहिँ इनि माना मन मय॥
जितने जो कछु शब्द हैं, तिनकूँ बानी मानियो।
अविधेयहिँ अनुगत सतत, स्वय प्रकाशित जानियो॥

यह सृष्टि चक्र तीन से ही चल रहा है। स्त्री, पुरुष और कामना। मन में कामना न हो तो स्त्री पुरुष जीवन भर साथ रहें। सृष्टि नहीं बढ सकती। कामना हो और केवल पुरुष हो तो वह क्या कर सकता है। कामना हो और केवल स्त्री हो, तो भी वह कुछ सृष्टि वृद्धि नहीं कर सकती। जब तीनों का संयोग होगा।

---

* वाणी, मन और प्राण ये ही तीनो लोक हैं। इनमें से यह भूलोक तो वाणी है। भुवर्लोक-अर्थात् अन्तरिक्षलोक मन है और स्वर्ग लोक ही प्राण है। इस प्रकार यह सभी वाणी, मन और प्राणमय है।

स्त्री और पुरुष दोनों के हृदय में कामना प्रवेश करेगी तभी सृष्टि-प्रवाह आरम्भ होगा। तीन से ही सृष्टि है। प्रकृति, पुरुष और परमात्मा। चित, अचित और नारायण, जड चेतन्य और ब्रह्म। कुछ लोग कहते हैं तीन नहीं एक ही है। वे व्यवहार और परमार्थ दो अवस्था मानते हैं। व्यवहार में तो उन्हें तीनों की सत्ता स्वीकार है। किन्तु परमार्थ अवस्था में वह एक ही है, जैसे वह सबका जनक है कारण है। जगत् उसका कार्य है। देह है। जड़ जगत् यह दृश्य प्रपञ्च है। चैतन्य जगत् आत्मा या जीव है। ये व्यवहार में तो पृथक्-पृथक् दीखते हैं, किन्तु परमार्थ में इनमें अभेद है। अभेद हो, भेद हो। जब सृष्टि और प्रलय को चाहे व्यवहार में, या यथार्थ में मानोगे तो तीन के बिना निर्वाह नहीं। वेद, देव, लोक, गुण, दोष, प्रकृति ये सबके सब त्रित हैं। अतः परमपिता ने सृष्टि के समय सात अन्न उत्पन्न करते समय तीन अन्न अपने लिये बचा कर रख लिये। क्योंकि सृष्टि त्रिगुणात्मिका है। तीनों गुणों में क्षोभ होने पर सृष्टि चक्र आरंभ होता है। अतः तीन अन्न- वाणी, मन और प्राण प्रजापति ने अपने भोग्य के लिये-अपने भक्षण करने के लिये रख लिये। आगे भगवती श्रुति उन्हीं प्रजापति के तीनों अन्नों की आध्यात्मिक विवेचना करती है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनिवर शौनकजी! आपने पूछा उस परमात्मा ने अपने लिये तीन अन्न उत्पन्न किये, वे तीन कौन-कौन हैं? इसी का वर्णन श्रुति स्वयं करती है, कि वे तीन अन्न हैं, मन, वाणी और प्राण।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! अन्न तो उपभोग्य होता है, भोक्ता जिसका भक्षण करे, जिसे खाय वह अन्न है। मन तो भोग्य नहीं। खाती तो इन्द्रियाँ हैं।"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! इन्द्रियाँ तो स्वतः विषयों का उपभोग नहीं कर सकतीं। चक्षु तब तक रूप नहीं देख सकतीं जब तक कि वहाँ मन न हो, कान तब तक श्रवण नहीं कर सकते, जब तक वहाँ मन न हो। किसी आदमी से कुछ कहो और वह उसे न सुने। तो आप फिर उसे डाँटकर कहो-"क्योंजी ! मैं इतनी देर से कह रहा हूँ आप सुनते क्यों नहीं ?" तब वह कहेगा—"क्षमा कीजिये, मेरा मन अन्यत्र था, इससे मैं आप की बात सुन नहीं सका।"

कोई आदमी हमारे सामने से जा रहा है। हमें देखता हुआ भी वह बिना नमस्कार प्रणाम के चला गया। पीछे से हमने उसको जाकर झकझोरा-"क्योंजी ! ऐसे आँख बचाकर भागे जा रहे हो ?" तब वह जैसे कोई सोते से उठकर चौंक्कर बोलने लगे ऐसे बोलते हुए कहने लगा--क्षमा कीजिये, मेरा मन अन्यत्र था। इसलिये आँखें खुली रहने पर भी मैंने आपको देखा नहीं।" इन बातों से यही निश्चय होता है, कि वह आँखों से तथा कानों से देखता सुनता नहीं है। मन द्वारा ही देखता सुनता है। कोई आदमी पीछे से आकर हमारी आँखें बन्द कर लेता है। हम उसके हाथों का अन्य अङ्गों का स्पर्श करके ही मन से उसे जान लेते हैं अतः कामना मन से ही होती है। स्त्री पुरुष का पुरुष स्त्री का उपभोग मन के ही द्वारा करते हैं। जितने भी संकल्प हम करते हैं, मन से ही करते हैं। विचिकित्सा अर्थात् संशय-ज्ञान, श्रद्धा-अर्थात् वस्तु के प्रत्यक्ष न होने पर भी भावनावश उसमें विश्वास कर लेना-अश्रद्धा-अर्थात् वस्तु के प्रत्यक्ष न होने पर भी उसमें विपरीत भावना कर लेना; धृति-अर्थात् धैर्य धारण किये रहना, अधृति-शरीर के शिथिल हो जाने पर स्वयं भी शिथिलता को प्राप्त हो जाना। लज्जा लजा जाना, संकोच में

पढ़कर संकुचित हो जाना। बुद्धि–किसी–विषय को निश्चयाभाव से दृढ़ पर लेना। भी–भयभीत हो जाना। ये सब मन के-अन्तःकरण के ही रूप हैं। इसलिये भोगन वाली इन्द्रियों से परे एक मन की भी सत्ता है, आत्मा का यही भोग्य है। उसी के द्वारा यह विषयों का भोग करता है इसलिये यह आत्मा का आध्यात्मिक अन्न मन है। अब दूसरा अन्न वाक् है। जो भी शब्द है वह चाहे कण्ठादि स्थानों से निसृत हो, अथवा वाद्यों से निसृत हो, मेघों द्वारा निसृत हो जो भी वर्णादि शब्द हैं सब की संज्ञा वाक् है। इसीलिये कि वाणी सब की प्रकाशिका है। यह अभिधेय के पर्यवसान में अनुगत है इससे प्रकाशिका है, प्रकाश्य नहीं। जैसे दीपक है उसे कोई दूसरा प्रकाशित नहीं करता है वही सबको प्रकाश प्रदान करता है। उसी के समान वाणी भी प्रकाशिका है। यह अन्य किसी द्वारा प्रकाश्य नहीं है। वाणी का कार्य प्रकाशकत्व ही है।

अब तीसरा अन्न है प्राण। इसमें केवल प्राण को ही नहीं समझना चाहिये। प्राण से प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान और अन इन सबकी प्राण संज्ञा ही है। प्राण किसे कहते हैं? जो बाहर गमन करे (प्रणयनात् प्राणः) वह प्राण हृदय में तो स्थायी रूप से रहता है। किन्तु मुख नासिका के मध्य भाग में तथा नाभि तक विचरता रहता है। श्वास को भीतर ले जाना बाहर निकालना तथा खाँसना ये प्राण वायु के कर्म हैं।

अपान नामक प्राण गुदा में स्थायी रूप से रहता है। मल-मूत्र को नीचे फेंकने से यह अपान कहलाता है (अपनयनात मूत्र पुरीषादेः अपानः) यह गुदा, लिङ्ग, दोनों जघाओं, कटि प्रदेश, नीचे घुटनों तक तथा सम्पूर्ण उदर में विचरता रहता है।

व्यान नामक प्राण सर्वसन्धियों में रहता है। यह बल

अपेक्षा रखने वाले कर्मों का हेतु है। दोनों कानों में, दोनो नेत्रों मे, दोनो कन्धो मे, दोनो टखनों में, जहाँ-जहाँ प्राण के स्थान हैं तथा कण्ठ में भी व्याप्त रहता है। यह प्राण अपान की सन्धि है। व्यायमन कर्माश्रम करने वाला–होने से यह व्यान कहलाता है। यह ध्वनि का भी व्यंजक है।

उदान नामक प्राण पादतल से लेकर मस्तकपर्यन्त व्याप्त रहता है। उत्कर्प और ऊर्ध्व गमन के कारण यह उदान कहलाता है। (उत्कर्पात् ऊर्ध्वगमनात्=उदानः) इसकी स्थिति विशेषकर दोनों हाथों मे दोनों पैरों मे है। पुष्टि तथा प्राणोत्क्रमण का कारण है।

अब जो समान वायु है वह सम्पूर्ण शरीर में समान भाव से व्याप्त है। यह खाये पीये पदार्थों को पचाने का कार्य भी करता है। समस्त शरीर को समभाव में रखने के कारण यह समान कहलाता है (समं नयनात्-इति समानः)

अन को भी इसमें गिनाया है। यह प्राण का ही बोधक है देह को सामान्य रखने वाली वृत्ति विशेष है। ये सब-के-सब प्राण ही हैं। यह आत्मा वाङ्मय, मनोमय तथा प्राणमय है। जैसे जीव अन्नमय है वैसे आत्मा के ये तीनों अन्न हैं। उन्हीं के सहारे यह कार्य करता है। ये तीनों ही अनेक रूपों में व्यक्त होते हैं। जैसे भू, भुव और स्वर्ग ये तीन लोक हैं। इनमें वाणी भूलोक है, मन भुवर्लोक है और प्राण ही स्वर्गलोक है। इसी प्रकार जो तीन वेद हैं, इनमें से वाणी ही ऋग्वेद है मन ही यजुर्वेद है और प्राण ही सामवेद हैं। इसी भाँति देवता, पितर और मनुष्यों में से वाणी ही देवता हैं, मन ही पितर हैं और प्राण ही मनुष्य हैं। माता, पिता और पुत्र में मन ही पिता है, वाणी ही माता है और प्राण ही पुत्र है।

इस प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् ही त्रितयात्मक है। तीन के अतिरिक्त कुछ नहीं वाणी, मन और प्राण ये ही नाना रूपों में नाना भावों में संसार में व्यक्त हो रहे हैं। जगत् में विज्ञात, विजिज्ञास्य और अविज्ञात ये तीन ही भाव हैं, विज्ञात तो उसे कहते हैं जो विशेष रूप से जान लिया गया है। जिसे जाना तो तो नहीं है, किन्तु जानने की जिज्ञासा है, उसे विजिज्ञास्य कहते हैं और जिसके विषय में हमे जानकारी ही नहीं है, जिसके सम्बन्ध में हमें भली भाँति ज्ञात नहीं, उसे अविज्ञात कहते हैं। अब इनका वाणी, मन तथा प्राणों में कैसे विभाग किया जाय? तो वाग्व्यवहार द्वारा जो भी कुछ जाना हुआ है-विज्ञात है-वह सब वाणी का रूप है। अर्थात् विज्ञात वाणी है। वह वाणी विज्ञाता की विज्ञात होकर रक्षा करती है।

वाणी तो विज्ञात हुई अब मन ही विजिज्ञास्य है अर्थात् इस दृश्य प्रपञ्च में-विश्व ब्राह्मण्ड में- जो भी पदार्थ हैं, उन्हें विशेष रूप से जानने के लिये मन-अर्थात् अन्तःकरण ही-समुत्सुक रहता है। मन ही निरन्तर कुछ न कुछ धुना बुनी करता रहता है वही मनन चिंतन में सलग्न रहता है। वही विजिज्ञास्य स्वरूप होकर जिज्ञासु साधक की रक्षा करता है। अतः मन ही विजिज्ञास्य है।

अब विज्ञात तो वाणी हुई। विजिज्ञास्य मन हुआ। रह गया अविज्ञात सो यह अविज्ञात रूप प्राण ही है। इन्द्रियों के अगोचर होने के कारण प्राण को ही अविज्ञात कहा गया है। यह प्राण अविज्ञात स्वरूप होकर भी उपासक की रक्षा करता है। इस प्रकार वाणी, मन और प्राण ये तीनों ही उपकारक हैं। ये तीनों ही उस प्रजापति के अन्न हैं। अब तक वाणी, मन और प्राण के आधिभौतिक रूप का ही जो विस्तार है उसी की

व्याख्या की गयी। अब आगे वाणी, मन और प्राण के आधिदैविक विषय को बताते हैं।

वाणी है, इसका आधिदैविक रूप क्या है ? अर्थात् इसका अधिष्ठातृ देव कौन है ? वाणी में वाक इन्द्रिय है वह अध्यात्म है, जो वचन बोले जाते हैं, वे आधिभौतिक हैं और वाणी के अधिष्ठातृ देव अग्नि हैं। मुख से वाणी प्रकट होती है और वाणी के अधिष्ठातृ देव अग्नि हैं। वाणी की उत्पत्ति शरीर द्वारा मुख द्वारा होती है अतः वाणी का शरीर तो पृथ्वी है। अर्थात् उसका अधिष्ठान पृथ्वी है–और अधिष्ठातृ देव अग्नि हैं। पृथ्वी उसका आधार है और अग्नि उसका आधेय है। कहने का तात्पर्य यह हुआ कि पृथ्वी और अग्नि ये प्रजापति की वाणी रूपा हैं। तो वाणी, पृथ्वी और अग्नि ये तीनों साथ-ही-साथ मिल जुलकर रहती हैं। जितनी वाणी है, उतनी ही पृथ्वी है और उतनी ही उसमें अग्नि है। वाणी इन्द्रिय है। उसका अधिष्ठान–आयतन-शरीर–पृथ्वी है और अधिष्ठातृदेव रूप से अग्नि है। इसी प्रकार वाणी की ही भाँति मन और प्राण में भी यही क्रम समझ लेना चाहिये।

वाणी के अधिष्ठातृ देव बताकर अब मन के अधिष्ठातृ देव बताते हैं मन का शरीर द्युलोक है। अर्थात् हृदयाकाश। मन हृदय कमल के भीतर रहता है। और इसका अधिष्ठातृ देव ज्योतिरूप आदित्य है। तो मन तो हुआ अधिष्ठाता, उसका शरीर–आयतन--रहने का स्थान हुआ हृदयाकाश–द्युलोक–और इसके अधिष्ठातृ देव हुए आदित्य। ये तीनों साथ ही रहते हैं जितना मन है उतने ही परिणाम में द्युलोक तथा आदित्य हैं। इस प्रकार वाणी और मन के अधिष्ठातृ देव बताये। जब वाणी और मन पारस्परिक संसर्ग से दोनों मिथुन हुए अर्थात वाणी

रूपा स्त्री और मन रूप पुरुष का सयोग हुआ—तो उन दोनो के ससर्ग से प्राण रूप पुत्र की उत्पत्ति हुई। इस प्राण रूपी पुत्र का मन ही पिता है और वाणी ही माता है। यह प्राण इन्द्र है अर्थात् परम ऐश्वर्यवान् है। इस प्राण में एक विशेषता है यह असपत्न है—अर्थात् इसका कोई शत्रु नहीं, वैरी नहीं, द्वेषी नहीं यह अजातशत्रु है। शत्रु तो प्रतिपक्षी ही हुआ करता है, इसका कोई प्रतिपक्षी नहीं अतः यह शत्रु रहित है।

इस प्रकार प्राण को मन वाणी का शत्रु रहित पुत्र मानकर जो साधक प्राणोपासना करता है उसका ससार में कोई शत्रु नहीं रह जाता अर्थात् वह सभी प्राणियों में मैत्री-भाव स्थापित कर लेता है।

इस भाँति वाणी और मन के अधिष्ठातृ देवों को बताकर अब प्राण के अधिष्ठातृ देव को बताते हैं। प्राण का शरीर-आयतन-घर जल है। इसका अधिष्ठातृ देव ज्योति रूप चन्द्रमा है। प्राण, जल और चन्द्रमा ये तीनों एक ही हैं साथ साथ रहते हैं। जितना प्राण है, उतने ही परिमाण में जल तथा चन्द्रमा है। ये तीनों ही समान हैं।

अब फिर से सुन लीजिये। वाणी, मन और प्राण ये तीनों प्रजापति के अन्न हैं। वाणी का शरीर पृथ्वी, अग्नि उसका अधिष्ठातृ देव। मन का शरीर हृदयाकाश—आदित्य उसके अधिष्ठातृ देव प्राण का शरीर जल, चन्द्रमा उसके अधिष्ठातृ देव ये तीनों ही अधिष्ठाता, अधिष्ठान और अधिष्ठातृ देव मिले जुले रहते हैं।

इस प्रकार वाणी, मन और प्राण ये तीनों ही अनन्त हैं और तीनों ही समान है। जो भी उपासक वाणी, मन और प्राण इन तीनों को अन्तवान् समझकर इनकी उपासना करता है वह

अन्तवान् लोकों को ही जीतने मे समर्थ हो सकता है, किन्तु जो साधक इन्हें अनन्त मानकर, अनन्त भावना मे इनकी उपासना करता है वह अनन्त लोक पर विजय प्राप्त करने में समर्थ होता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार वाणी, मन और प्राण रूप से प्रजापति के तीनों अन्नों का आधिभौतिक-आधिदैविक वर्णन किया। अब इस तीन अन्न रूप प्रजापति के संवत्सरस्वरूप की सोलह कलाओं का वर्णन आगे किया जायगा।"

छप्पय

(१)

प्रान, अपान, समान व्यान अन अरु उदान हू।
सबई हैं ये प्रान बसैं सम्पूर्ण देह हू॥
देह मनोमय वाक-प्राणमय तीनिहु मय है।
भू भुव स्वर्येलोक वाक, मन, प्रान रूप है।
तीनि वेद, नर, पितर सुर, मातु पिता सुत तीनि ये।
सबहिँ वाक, मन, प्रानमय, तीनि भाव ही प्रकटते॥

(२)

विजिज्ञास्य, विज्ञात, अविज्ञात हु तीनि हिये।
वाक रूप विज्ञात कह्यो मन विजिज्ञास्य जे॥
अविज्ञात है प्रान करें रच्छा तीनहुकी।
वानी भू-तनु, अग्निदेव, समता तीनहुकी॥
-मन-तनु हिय आकाश है, कहे देव आदित्य हैं।
-मन-वानी संसर्ग तैं, प्रान पुत्र-बिनु शत्रु हैं॥

(३)

प्रान-देह जल, देव चन्द्रमा तीनहु सम हैं।
मन, बानी अरु प्रान अन्न ये सकल अनँत हैं॥
अन्तवान् इनि जानि अन्त लोकनि जय पावै।
जानें इन्हें अनन्त अनन्त हु लोकनि आवै॥
कहे प्रजापति अन्न त्रय, मन इकाग्र करि इनि गुनौ।
संवत्सर सोलह कला, सावधान साधक सुनो॥

प्रजापति के तीनों अन्नों का अर्थ (२)

[२१२]

अथ त्रयो वाव लोका मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोको देवलोको वै लोकानां श्रेष्ठस्तस्माद्विद्यां प्रशंसन्ति ॥*

(बृ० उ० १ अ० ५ ब्रा० १६ मं०)

छप्पय

सम्वत्सर की कला निशा पन्द्रह ध्रुव सोलहिं ।
शुक्लपक्ष महँ वृद्धि कृष्ण में पुनि सो छीणहिं ॥
अमा निशा महँ कला सोलहू प्रानिनि प्रविसे ।
ता दिन हिंसा करै न निरसै नहिँ लखि हरसै ॥
वित्त पन्द्रवीं कला है, सोलहवीं आत्मा कही ।
धन तो आवत जात है, मुख्य देह यदि बचि रही ॥

शास्त्रों में बार-बार एक ही बात बतायी गयी है। यह जगत् अनित्य और परिवर्तनशील है। जब परमात्मा प्रलयकाल में

---

* ये तीन ही लोक हैं। मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक। पुत्र के द्वारा मनुष्यलोक जीता जा सकता है। अन्य से नहीं। कर्म द्वारा पितृलोक तथा विद्या द्वारा देवलोक जीते जा सकते हैं। लोकों में श्रेष्ठ तो देवलोक ही है। इसी कारण विद्या की ही प्रशंसा है।

स्वयं ही है। वह स्वयं ही अन्न है और स्वयं ही उसे खाने वाला अन्नाद है। वह स्वयं ही निमित्त कारण है और स्वयं ही उपादान कारण है। वह चित् अचित् से युक्त भी है और इनसे परे भी हैं। अतः भिन्न-भिन्न प्रकार से उसी एक ब्रह्म को नाना रूपों से, नाना युक्तियों से सिद्ध किया गया है। फिर भी वह तर्कों द्वारा आज तक सिद्ध नहीं हुआ, क्योंकि वह तर्कों से परे है। तर्कों की वहाँ तक पहुँच नहीं। वह अचिन्त्य है। फिर भी उसकी चिन्तना किये बिना जीव पर रहा नहीं जाता। यद्यपि वह अतर्क्य है फिर भी समस्त अस्ति-नास्ति सम्बन्धी तर्के उन्हीं के ऊपर की जाती हैं। ऐसा करने को जीव विवश है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पिछले प्रकरण में जो आत्मा के वाणी, मन और प्राण तीन अन्न बताये। उनमें सबसे अंत में प्राण का शरीर जल और चन्द्रमा को उस प्राण का अधिष्ठातृ देव बताया। अब प्रसङ्गानुसार सोलह कला वाले संवत्सर के प्रजापति रूप का भी वर्णन करना आवश्यक हो गया। क्योंकि वे प्राण के अधिष्ठातृ देव चन्द्रमा ही संवत्सर का निर्माण करते हैं और यह संवत्सर प्रजापति ही अन्नोपासक है। अन्न का भोक्ता है। यह षोडश कला युक्त है। कैसे है? इसी को भगवती श्रुति बताती है क्योंकि इसमें चन्द्र द्वारा ही संवत्सर है। इसलिये इसे चन्द्र विद्या कहते हैं।"

अब प्रसंग प्राप्त विषय के अनुसार चन्द्र विद्या को कहते हैं। इसमें वाणी, मन और प्राणरूप जो प्रजापति के तीन अन्न हैं। अर्थात् तीनों अन्नों का भोक्ता जो प्रजापति है, उस प्रजापति का संवत्सर भी एक रूप है यह संवत्सर सोलह कलाओं वाला है। क्योंकि चन्द्रमा की सोलह ही कलायें होती हैं। उनके नाम (१) अमृता, (२) मानदा, (३) पूषा, (४) तुष्टि, (५) पुष्टि (६) रती

(७) धृती, (८) शशिनी, (९) चन्द्रिका, (१०) कान्ती, (११) ज्योत्स्ना, (१२) श्री, (१३) प्रीति, (१४) अगदा, (१५) पूर्णा और (१६) पूर्णामृता हैं। ये जो प्रतिपदा से लेकर पूर्णिमा तक की पन्द्रह रात्रियाँ हैं ये तो पन्द्रह कला हुईं, एक सोलहवीं कला जो पूर्णामृता है उसका नाम ध्रुवा है और कलायें तो घटती बढ़ती रहती हैं, किन्तु एक ही कला यह ध्रुवा ऐसी है, जो सदा चन्द्रमा के साथ रहती है। अमावस्या के दिन जब चन्द्रमा की पन्द्रहों कला क्षीण हो जाती हैं तब एक यह ध्रुवा ही कला चन्द्रमा के समीप रह जाती है जैसे शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा है उस दिन चन्द्रमा की पहिली कला बढ़ेगी फिर प्रतिदिन एक-एक बढ़ते-बढ़ते पूर्णिमा के दिन पन्द्रह ये कलायें और एक उसके पास सदा रहने वाली ऐसे सोलहों कलाओं से चन्द्रमा परिपूर्ण हो जायँगे। फिर कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के दिन से उनकी एक-एक कला घटती जायगी। अमावस्या को पन्द्रहू कलायें क्षय हो जायँगी। इसीलिये अमावस्या को चन्द्रमा दिखायी नहीं देते। उस दिन उनकी एक ही कला ध्रुवा रह जाती है। उस दिन चन्द्रमा उस सोलहवीं ध्रुवा कला से इस संसार के समस्त प्राणियों में प्रवेश कर जाते हैं। दूसरे दिन (शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को) प्रातःकाल जब एक कला की उनमें वृद्धि होती है, तब वे पुनः उत्पन्न होते हैं। अमावस्या की रात्रि में अपनी ध्रुवा कला सहित प्राणी समुदाय में अनुप्रविष्ट हो जाते हैं। इसलिये अमावस्या की रात्रि में किसी भी प्राणी का प्राण विच्छेद न करे। यहाँ तक की उस दिन वृक्ष से दातौन भी न तोड़े। कृकलास–गिरगिट–को भी न मारे।

सोमदेव के सम्मानार्थ उनकी पूजा के निमित्त किसी की भी हिंसा न करे।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! जब अमावस्या के दिन सभी प्राणियों की हिंसा का निषेध कर ही दिया गया तो फिर गिरगिट कुकलास--का विशेष नाम क्यों लिया ?"

हँसकर सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! जिसके शरीर पर कक--कोटे होते हैं वह करकेंटा या गिरगिट नामक जीव बहुत ही निकृष्ट, नीच, अत्यन्त पापी प्राणी माना जाता है। लोगों का कहना है इसके शरीर में विष होता है, जिसे यह काट ले, वह बचता नहीं। कुछ लोगों का ऐसा स्वभाव पड़ जाता है, कि गिरगिट को देखते ही उसे पत्थर से-अशुभ दर्शन समझकर मार डालते हैं और उस नीच प्राणी के मारने में पाप भी नहीं समझते। ऐसे ही प्राणियों को लक्ष्य करके श्रुति गिरगिट के भी मारने का निषेध करती है, कि अन्य दिन तुम गिरगिट को मार भी देते हो, तो भी अमावस्या के दिन इस सोमदेव के सम्मानार्थ उसे भी उस दिन न मारना। इस प्रकार चन्द्रमा की सोलह कलाओं के पूर्ण होने में एक मास लगता है। ऐसे बारह मास का एक संवत्सर होता है। यही संवत्सर उस प्रजापति का स्वरूप है जिसके वाणी, मन और प्राण अन्न हैं। यही चन्द्र विद्या है। अर्थात् इस संवत्सर को प्रजापति का ही रूप समझ कर उपासना करे। अब इस षोडश कलायुक्त चन्द्र विद्या की उपासना करने का फल क्या होता है, इसे बताते हैं। जो उपासक इस षोडश कलायुक्त संवत्सर नामक प्रजापति की उपासना करता है, जो इस प्रकार संवत्सर के स्वरूप को जान लेता है, उसे वित्त की पन्द्रह कलायें तथा सोलहवीं जो आत्म कला है उन्हें प्राप्त कर लेता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! आपने चन्द्रमा की अमृता, मानदा, पूषा, तुष्टी, पुष्टी, रती, धृती, शशिनी, चन्द्रिका, कान्ती,

ज्योत्स्ना, श्री, प्रीति, अंगदा और पूर्णा ये क्षय वृद्धि होने वाली पन्द्रह कलायें बतायीं और सोलहवीं पूर्णामृता को ध्रुवा (स्थायी रहने वाली) बताया। ऐसे ही मानव वृत्ति की १५ कलायें और एक स्थायी रहने वाली सोलहवीं कला कौन-सी है।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! मनुष्यों में १५ वस्तुएँ ही धन मानी जाती हैं। वे पन्द्रह वस्तुएँ ये हैं—(१) गौ, (२) भैंस, (३) घोड़ा, (४) हाथी, (५) भेड़, (६) बकरी, (७) भूमि, (८) सुवर्ण, (९) चाँदी, (१०) मोती, रत्न, (११) वस्त्र, (१२) आभूषण, (१३) अन्न औषधि, (१४) राज्य तथा (१५) साम्राज्य। जैसे चन्द्रमा की पन्द्रह कलायें क्षय और वृद्धि धर्म वाली हैं, कृष्ण में घट जाती हैं, शुक्ल पक्ष में बढ़ जाती हैं। उसी प्रकार ये गौ भैंसें आदि द्रव्य क्षय वृद्धिकारक हैं कभी घट जाते हैं कभी बढ़ जाते हैं। जैसे चन्द्रमा की एक ध्रुवा नाम वाली सोलहवीं कला उसके पास स्थायी रहती है, वैसे ही मनुष्य का जो यह आत्मा है-देह है-शरीर है-यह धन घट बढ़ जाय तो भी यह बना ही रहता है धन से ही आदमी चन्द्रमा की भाँति घटता बढ़ता रहता है। धन बढ जाय तो लोक में उससे भाग्यवान् धनवान बड़ा आदमी कहने लगते हैं। धन क्षीण हो जाय तो उसे निर्धन अभागा छोटा आदमी कहते हैं। साधक का यह शरीर रथ के चक्र की नाभि के सदृश है। पहिये के बीच में जो पुट्ठी लगी रहती है। जिसमें सभी ओर-आड़ी-बेड़ी लकड़ियाँ लगी रहती हैं, उसके सदृश है और ये पन्द्रह धन उन नेमि-लकड़ियों के सदृश हैं जो चारों ओर से पुट्ठी में जड़ी रहती हैं। इसीलिये यदि पुरुष का सभी प्रकार का धन नष्ट हो जाय-सर्वस्व अपहरण हो जाय किन्तु रथ की पुट्ठी की भाँति शरीर शेष रह जाय, तो लोग यही कहते हैं अजी, कोई बात नहीं, पहिये की लकड़ियाँ ही टूटी हैं। पुट्ठी

तो ज्यों-की-त्यों सुरक्षित हैं नेमि लकड़ियाँ फिर और लग जायँगी। इसी प्रकार कृष्ण पक्ष के चन्द्रमा की कलाओं के समान सोना, चाँदी, गो, घोड़ा ये कलायें क्षीण भी हो जायँ तो शुक्ल पक्ष मे ये कलायें फिर बढ़ जाती हैं उसी प्रकार चन्द्र विद्या की महिमा के प्रभाव से मनुष्य की ये समस्त कलायें शरीर के रह जाने पर पुनः पूर्ण हो जायँगी। इस प्रकार प्रसंगानुसार चन्द्र विद्या और उसका फल बता दिया।

पीछे प्रजापति के वाणी, मन और प्राण तीनो अन्नों की तीनों लोको से समता की थी। जैसे वाणी ही मनुष्यलोक है। मन ही पितृलोक है और प्राण ही स्वर्ग देवलोक है। उसी की व्याख्या करते हुए तीनो लोकों की प्राप्ति के साधनों को बताकर देव लोक की उत्कृष्टता का अब कथन करते हैं। भगवती श्रुति कहती है—

लोक तीन ही हैं। मनुष्य लोक, पितृलोक और देवलोक। अब इस मनुष्य लोक पर विजय प्राप्त करने का साधन एक ही है, वह पुत्र है। पुत्र के बिना इस लोक में गति नहीं। पुत्र के अतिरिक्त यह लोक किसी अन्य कर्म से नहीं जीता जा सकता।

शौनकजी पूछा—"पुत्र से यह लोक कैसे जीता जाता है?"

सूतजी बोले—"भगवन्! पुत्र होता है, धर्मपत्नी में। विवाह हो तभी धर्मपत्नी आवे। संसार में तीन ही सुख हैं, रति सुख, धन सुख और परलोक सम्बन्धी धर्म सुख। रतिसुख पत्नी से प्राप्त होता ही है। जब पत्नी होगी तो उसके लिये धन भी जुटाना आवश्यक होता है। पत्नी द्वारा पुत्र की प्राप्ति होती है। वह इह लोक तथा परलोक दोनों का ही उत्तराधिकारी होता है। पुत्र उसे कहते हैं, पिता के जीवन में तो उसकी आज्ञाओं का

पालन करे। पिता के मरने पर मरण के दिन हृदय खोलकर बहुत से लोगों को भोजन करावे और गयाजी में जाकर पितरों को पिंडदान दे आवे। जो ये तीन काम करता है। वही वास्तव में पिता का यथार्थ पुत्र है। इसलिये इस मनुष्य लोक का यथार्थ सुख पुत्र है। यह मनुष्य लोक पुत्र से ही जीता जा सकता है। इसलिये लोग बहुत पुत्रों की कामना किया करते हैं, कि उनमें से कोई भी एक जाकर पितरों का गया में श्राद्ध कर आवेगा। कोई एक भी पितरों के नाम से नीला साँड़ छोड़ देगा।"

शौनकजी ने पूछा—"मनुष्यलोक तो पुत्र के द्वारा जीता जा सकता है। पितृलोक किसके द्वारा जीता जाता है ?"

सूतजी ने कहा—"पितृलोक कर्मों द्वारा जीता जा सकता है। स्वर्ग और अन्तरिक्ष के बीच में पितृलोक है। वह अग्निहोत्र, दर्श पूर्णिमा और श्राद्धादि कर्मों से ही जीता जा सकता है। पुत्र स अथवा विद्या से नहीं जीता जा सकता।"

शौनकजी ने पूछा—"स्वर्ग लोक किससे जीता जा सकता है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मलोक पर्यन्त के सभी लोक देवलोक ही कहाते हैं। ये लोक तो केवल विद्या द्वारा ही जीते जा सकते हैं। तीनों लोकों में देवलोक ही सर्वश्रेष्ठ लोक हैं। वे बिना विद्या के प्राप्त नहीं होते। अतः शास्त्रों में सर्वत्र विद्या की ही प्रशंसा है। और विद्या उसी को कहते हैं जो हमें मुक्ति तक पहुँचा दे।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! यह मैंने संक्षेप में तीनों लोकों की प्राप्ति के साधन सुनाये अब आगे मनुष्य लोक पुत्र द्वारा कैसे जय का हेतु है इसे बताने के निमित्त कैसे सम्प्रत्ति कर्म और उसके परिणाम को बतावेंगे, उसे मैं आपसे आगे कहूँगा।"

छप्पय

मनुज, पितर, सुर तीनि-लोक नरलोक जयी सुत।
पितृलोक जय करै कर्म तैं पिण्ड श्राद्ध युत॥
देवलोक पै करै विजय विद्या तैं साधक।
सब लोकनि तैं श्रेष्ठ लोकसुर अति सुख दायक॥
'श्रद्धा तै ही ज्ञान है, ज्ञान मुक्ति को द्वार है।
कहें कर्म सम्प्रत्ति कूँ, जातै नर उद्धार है॥

प्रजापति के तीनों अन्नों का अर्थ (३)

[२१३]

पृथिव्यै चैनमग्नेश्च दैवी वागाविशति सा वै दैवी वाग्यया यद्यदेव वदति तत्तद्भवति ॥*

(बृ० उ० १ अ० ५ ब्रा० १८ मं०)

छप्पय

मरनशील पितु कहे—पुत्र ! तू ब्रह्म, यज्ञ, लोक !
सुनि सुत हाँ कहि देत ब्रह्म-स्वाध्याय, यज्ञ-मख ॥
होहिं लोक ही लोक यही करतव्य यही है ।
पुत्र लोक्य तिहि देह व्याप्त पितु तामें ह्वै है ॥
यदि प्रमादवश पिता तैं, रहै शेष करतव्य है ।
पुत्र ताहि पूरन करै, पिता पुत्र तैं अमर है ॥

इस संसार में दो ही मार्ग हैं। मार्ग को ही पन्था, अथवा सम्प्रदाय कहते हैं। वे दो मार्ग हैं, कर्म मार्ग और ज्ञान मार्ग। तीसरा एक बीच का उपासना मार्ग भी है। उसी को भक्ति मार्ग निष्काम कर्म मार्ग, तदर्थ कर्ममार्ग, प्रपत्ति मार्ग, शरणागति मार्ग आदि नामों से पुकारते हैं। इसे कर्म करते हुए गृहस्थ भी कर

---

* सम्प्रति कर्म करने वाले में पृथ्वी और अग्नि से दैवी वाक् का आवेश हुआ करता है। दैवी वाक् की परिभाषा यही है, कि साधक अपनी वाणी से जो-जो भी वचन बोले वही-वही तुरन्त हो जाय

सकते हैं और कर्म त्यागी संन्यासी भी कर सकते हैं। कर्म मार्ग में तो द्विजातियों का ही अधिकार है, किन्तु इस भक्ति मार्ग या निष्काम कर्म योग मार्ग के अधिकारी तो द्विज, द्विजबन्धु, स्त्री तथा शूद्र सभी हैं।

कर्म तो बन्धन का कारण है, उसकी इतनी प्रशंसा क्यों है, समस्त वेद कर्म परक ही हैं, एक लक्ष श्रुतियों में चौरानवे सहस्र कर्म का ही उपदेश करती हैं। इसीलिये मीमांसक लोग कहते हैं वेद कर्म मार्ग का ही प्रतिपादन करते हैं। जब तक जीवित रहो, वैदिक कर्मों का अनुष्ठान करते ही रहो। जीवन पर्यन्त यज्ञ यागादि शुभ कर्मों का भूल से भी परित्याग न करो।

ज्ञान मार्ग वाले कहते हैं—"कर्म अदृढ़—टूटी फूटी—नौका है। उसके द्वारा तुम कभी भी संसार सागर से पार नहीं हो सकते। संसार से पार होने का एक मात्र साधन ज्ञान है। ज्ञान के बिना संसार बन्धन से मुक्ति नहीं। अतः जब भी जहाँ भी गृह में अथवा वन में वैराग्य उत्पन्न हो जाय, उसी समय वहीं समस्त कर्मों को त्यागकर यति-संन्यासी बन जाना चाहिये।"

बात दोनों ही सत्य हैं, किन्तु कर्मों का त्यागना कोई सहज काम तो है नहीं। जो जीव जन्म से ही कर्मासक्त है, कर्म संगी है, जो एक क्षण भी बिना कर्म किये रह नहीं सकता। उससे आप कैसे आशा करेंगे, कि वह समस्त इहलौकिक तथा पारलौकिक कर्मों का परित्याग करके सर्वथा निष्काम हो जाय? इसलिये जीव जब जन्म लेता है तभी पुत्रेषणा, वित्तेषणा और लोकेषणा उसके हृदय में चिपटी रहती हैं। ब्रह्माजी ही एक शरीर से दो बन गये। शरीर का आधा भाग पुरुष और आधा भाग स्त्री। अतः स्त्री पुरुष के बिना आधी है और पुरुष स्त्री के बिना आधा है। जब दोनों मिल जाते हैं, तभी वे अपने

को पूर्ण समझते हैं। अधूरा कौन--रहना चाहेगा। क्योंकि यह जीव पूर्ण का अंश है। इसलिये यह भी पूर्ण ही होना चाहता है।

जब पुरुष पूर्ण हो गया तब वह निर्वाह के लिये धन चाहता है और अपने उत्तराधिकार के लिये पुत्र चाहता है। पुत्र पिता दो नहीं एक ही हैं। पिता की आत्मा ही पुत्र है। पुत्रेषणा और वित्तेषणा के अनन्तर पुरुष की इच्छा होती है, मैं स्वर्गादि पुण्य लोकों को जीतूँ। इसके लिये वह वेदाध्ययन, यज्ञादि पुण्य कर्मों को करता है, जिससे उसे मरने के अनन्तर पुण्य लोक प्राप्त हों। जीवन में कुछ काम अधूरे रह जाते हैं, जैसे जिस काम को आज पूरा नहीं कर सके, उसे सोचते हैं—"कल पूरा कर लेंगे।" किन्तु पुरुष जब मरने लगता है, तब अपनी ही आत्मा–अपने ही स्वरूप पुत्र से यह आशा रखता है। मेरे बचे हुए कार्यों को पुत्र पूरा करेगा। मेरे वेदाध्ययन, यज्ञ और लोक सम्बन्धी कार्यों का उत्तराधिकार भी यह वहन करेगा। क्योंकि पिता और पुत्र तो एक ही हैं। पुत्र के किये हुए कर्म का फल पिता को भी मिलता है।

एक बार देवर्षि नारद धर्मराज युधिष्ठिर की सभा में पधारे। उन्होंने सब लोक पालों की पुरियों का वर्णन किया और उनमें कौन-कौन लोग रहते हैं इसका भी वर्णन किया। तब धर्मराज ने पूछा—"ब्रह्मन्! आपको मेरे पूज्य पिताजी भी कहीं मिले थे क्या?"

नारदजी ने कहा—"धर्मराज! वे मुझे स्वर्ग में देवराज इन्द्र की सभा में मिले थे। उन्होंने तुम्हारे लिये एक सन्देश भेजा है। उसे ही कहने मैं तुम्हारे पास आया हूँ तुम्हारे पिता ने कहा है—"और तो यहाँ सब ठीक ही है, किन्तु राजा हरिश्चन्द्र

जब देवराज इन्द्र के सिंहासन पर उनके बराबर बैठते हैं, और हमें उनके नीचे बैठना पड़ता है, तो इससे हमें महान् कष्ट होता है। हरिश्चन्द्र इसलिये देवराज के बराबर बैठते हैं, कि उन्होंने राजसूय यज्ञ किया है। आप मेरे पुत्र युधिष्ठिर से कह दें कि वह जैसे हो तैसे राजसूय यज्ञ करे। जिससे मुझे भी बैठने को इन्द्र का आधा सिंहासन मिले।"

इससे सिद्ध होता है, कि पिता जिस कार्य को जीवन में नहीं कर सका, उसे यदि उसका पुत्र कर देवा है, तो उसका फल स्वर्गीय पिता को भी प्राप्त हो जाता है। इसीलिये पीछे कहा गया है, यह मनुष्य लोक सत्पुत्र द्वारा ही जीता जा सकता है। वह कैसे जीता जाता है। सम्पत्ति कर्म द्वारा। संप्रत्ति कर्म क्या है इसी का वर्णन आगे किया जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! मनुष्यलोक पुत्र के कारण ही जीता जा सकता है। वह संप्रत्ति कर्मानुसार।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! संप्रत्ति किसे कहते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! सप्रत्ति, सम्प्रदान को कहते हैं। किसी के लिये कोई वस्तु दी जाती है। उसी का नाम संप्रदान है। पिता जब मरने लगता है, तो अपना उत्तराधिकार पुत्र को देता है। अर्थात् जिन कार्यों को अब तक मैं करता था उन कार्मों को मेरे पश्चात् तुम करते रहना। इसी कर्म को सम्प्रत्ति कहते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"पिता पुत्र को किस प्रकार अपना उत्तराधिकार सप्रदान करता है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन ! शरीर के लक्षणों को देखकर जब पिता को यह विश्वास हो जाता है, कि अब मेरी मृत्यु हो जायगी। तब वह अपने सुयोग्य पुत्र को अपने समीप बुलाकर

कहता है—"देखो, बेटा ! तुम ही ब्रह्म अर्थात् वेद हो, तुम ही यज्ञ हो और तुम ही लोक हो।" अर्थात् जैसे मैं अब तक वेदाध्ययन करता था, वैसे ही तुम भी निरालस्य होकर वेदों का अध्ययन करते रहना। जिस प्रकार मैं नियमित समय पर यज्ञ करता था। वैसे ही तुम भी करते रहना जैसे मैं पुण्य लोकों की प्राप्ति हेतु प्रयत्नशील रहा हूँ वैसे ही तुम भी रहना।"

पिता के ये वचन सुनकर इसके प्रत्युत्तर में पुत्र कहता है—"पिताजी ! मैं ब्रह्म हूँ, मैं यज्ञ हूँ और मैं लोक हूँ। अर्थात् आपकी आज्ञानुसार मैं वेदों का स्वाध्याय, यज्ञ और बलिवैश्वदेव तथा पुण्य लोकों की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता रहूँगा।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! मैं ब्रह्म हूँ मैं यज्ञ तथा लोक हूँ। इसमें ब्रह्म का अर्थ परब्रह्म ही क्यों नहीं मान लिया जाय।"

सूतजी ने कहा—'भगवन् ! भगवती श्रुति स्वयं ही इनकी व्याख्या करती हुई बताती है कि यहाँ जो 'ब्रह्म' शब्द है इससे जो भी कुछ स्वाध्याय है उसी से यहाँ अभिप्राय है। और जितने भी यज्ञ हैं उन सब की एकता यज्ञ शब्द में है। जितने भी पुण्य लोक हैं, उनकी एकता लोक शब्द से है। इसलिये गृहस्थ का ही कर्त्तव्य है। वह विधिवत् वेदाध्ययन करे। शक्ति के अनुसार इतना यज्ञों का अनुष्ठान करे और पुण्यलोकों की प्राप्ति के निमित्त प्रयत्नशील बना रहे।

जब पुत्र पिता की दी हुई सम्प्रत्ति को सम्प्रदान को स्वीकार कर लेता है, तब पिता यह मानने लगता है कि यह मेरा सत्पुत्र है, यह मेरे इस भार को सम्हाल लेगा। मैं जब इस लोक से प्रस्थान कर जाऊँगा तब यह पीछे से मेरा पालन करेगा, मुझे पिंड प्रदान और तर्पण द्वारा तृप्त करेगा। मुझे पुण्य लोक प्राप्त

कराने में सहायक होगा। इसीलिये इस प्रकार अनुशासित सत् पुत्र को लोक्य कहते हैं। लोक्य का अर्थ हुआ पुण्यलोक प्राप्त कराने में हितकर। इसीलिये पिता उस सत्पुत्र का अनुशासन करता है। उसे जब भली-भाँति ज्ञात हो जाता है, कि यह पुत्र मेरी आज्ञाओं का पालन करेगा, तो वह परलोक जाते समय इन्हीं प्राणों सहित पुत्र में व्याप्त हो जाता है। अर्थात् पुत्र पिता का प्रतिकृति ही बन जाता है। वह पिता के समस्त कार्यों का प्रतिनिधि होता है। पिता किसी से ऋण लेकर चुका नहीं सका है तो पुत्र उस ऋण को चुकाता है। किसी को ऋण देकर उससे ले नहीं सका है तो पुत्र उस ऋण को उससे प्राप्त करता है। कोई यज्ञ अनुष्ठान करना चाहता था, किन्तु मरण काल पर्यन्त उसे नहीं कर सका, तो उसे पुत्र रूप में पूर्ण करता है। कहने का सारांश इतना ही है, कि पिता प्रमादवश या अन्य किसी कारण से जो काम नहीं कर सका या अधूरा कर सका, तो उसे पुत्र पूर्ण करके पिता को चिन्ता मुक्त कर देता है। इसी से उसका नाम पुत्र है (अवशिष्ट कार्य पूरणेन-त्रायते-इति पुत्रः) पुत्र का यही पुत्रत्व है। अपने पिता के बचे हुए छिद्रों को भरकर पिता को पाप से बचा ले। उसे पुं नामक नर्क में न जाने दे। क्योंकि पुत्र के द्वारा ही पिता इस लोक में प्रतिष्ठित होता है। इस प्रकार जिस पिता ने अपने पुत्र में सम्प्रति कर्म-अर्थात् सम्प्रदान कर्म-किया है। उस पिता में ये वाणी, मन और प्राण दैवी भाव से-हिरण्य गर्भ सम्बन्धित अमृत-प्रवेश करता है। अर्थात् अमरण धर्मा प्राण जो देवताओं में होते हैं-वे आविष्ट हो जाते हैं। वे अमरण धर्मा वाणी, मन और प्राण किस भाँति आविष्ट होते हैं-उस प्रकार को बताते हैं—

इस बात को पीछे बता चुके हैं वाणी का शरीर तो पृथ्वी

है और अग्नि उसके अधिष्ठातृ देव हैं। अब जब यह भौतिक शरीर त्यागकर पुत्र द्वारा इस लोक से कृत-कृत्य होकर पुण्य लोक में पहुँचा तो आधिभौतिक मानुषी वाक् के स्थान में इसमें सूक्ष्म अग्नि और सूक्ष्म पृथ्वी द्वारा दैवी वाणी का प्रवेश होता है। अर्थात् मानुषी वाणी के स्थान में इसमें दैवी वाणी का आवेश होता है।"

शौनकजी ने पूछा—"दैवी वाणी किसे कहते है ?"

सूतजी ने कहा—"इसकी व्याख्या श्रुति स्वयं करती है। मानुषी वाणी तो कभी असत्य भी हो जाती है, किन्तु दैवी वाणी उसे कहते हैं जिससे पुरुष जो-जो भी बोलता है, वही-वही हो जाता है। जिसे शाप दे-दे उसे वह शाप लग जाता है। जिसे जैसा भी वरदान दे-दे, वह ज्यों का त्यों सफल हो जाता है। उसमें अनृत तथा अशुद्धादि दोष नहीं रहते। दैवी वाणी के अनन्तर उसमें दैवी मन का आवेश होता है।"

शौनकजी ने पूछा—"दैवी मन का उस कृत-कृत्य हुए परलोक वासी माहात्मा में आवेश कैसे होता है ?"

सूतजी ने कहा—"पीछे बता ही आये हैं, कि मन का द्युलोक तो शरीर है और आदित्य इसके अधिष्ठातृदेव हैं। अतः द्युलोक और आदित्य द्वारा इसमें दैव मन का आवेश होता है।"

शौनकजी ने पूछा—"दैव मन की परिभाषा क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"दैव मन वही कहलाता है, कि जिससे यह आनन्द को प्राप्त होता है सदा आनन्दी ही बना रहता है। कभी शोक नहीं करता। इस प्रकार दैवी वाणी और दैवी मन के प्रवेश के अनन्तर इसमे दैवी प्राण ने भी प्रवेश किया।"

पीछे बता ही चुके हैं इस प्राण का शरीर तो जल

चन्द्रमा अधिष्ठातृ देव है। तो जल और चन्द्रमा द्वारा दैव प्राण का इसमें प्रवेश हुआ।

शौनकजी ने पूछा—"दैव प्राण की क्या परिभाषा है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! प्राण का कार्य संचार करना है दैव प्राण संचार कर रहा हो अथवा न कर रहा हो, वह कभी भी किसी भी दशा में व्यथित नहीं होता। और न वह नष्ट ही होता है।"

इस प्रकार दैवी वाणी, दैव मन और दैव प्राण प्राप्त करके वह महात्मा कृत-कृत्य हो जाता है। जो उपासक इस प्रकार दैव वाक्, दैव मन और दैव प्राण के रहस्य को जानकर उपासना करता है, वह समस्त भूतों का आत्मा हो जाता है। वह देवताओं के सदृश ही हो जाता है। जिस प्रकार समस्त प्राणी देवों की आज्ञा का पालन करते हैं अर्थात् यज्ञादिकों में आहुति देकर उन्हें पुष्ट करते हैं वैसे ही समस्त प्राणी इसका पालन पूजन आदि करते हैं। मनुष्यों के दिये हुए उपहार इसे प्राप्त होते हैं।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! जब इस परलोकगत महात्मा को प्रजाओं के पुण्य प्राप्त होते हैं, तो उनके शोक जनित दुःख भी इसे प्राप्त होते होंगे ?"

सूतजी ने कहा—"नहीं भगवन् ! दिव्य पुरुषों को दिव्य ही वस्तुएँ प्राप्त होती है, प्रजा के लोग जो शोक करते हैं, वह शोक जनित दुःख तो उन्हीं के पास रहता है। उसका उपभोग तो प्रजा के लोग ही करते हैं, किन्तु जो वे पुण्य करते हैं, वह पुण्य इसे प्राप्त होता है।"

शौनकजी ने पूछा—"ऐसा क्यों ? मीठा-मीठा गप्प-गप्प। कड़वा-कड़वा थू-थू ?"

सूतजी ने कहा—"जैसा पुरुष होता है उसे वैसी ही वस्तु

प्राप्त होती है। पाप का तो वे परित्याग करके ही आये हैं। इस-लिये पाप उनके पास पहुँचता ही नहीं। वे तो पुण्यात्मा हैं अतः पुण्य ही उनके पास पहुँच सकते हैं। पुण्यात्मा देवताओं को पाप स्पर्श नहीं कर सकते। इस प्रकार वाक्, मन और प्राण जो प्रजा-पति के अन्न हैं, इनका महत्व बताया।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार प्रजापति के जो तीन अन्न हैं–वाक्, मन और प्राण–इनका समान भाव से गुण वर्णन किया। अब इन तीनों में प्राण ही श्रेष्ठ है। इस बात को बताने के लिये--प्राण का श्रेष्ठत्व सिद्ध करने के लिये--आगे व्रत मीमांसा कही जाती है। इसमें जिस प्रकार अध्यात्म प्राण प्रदर्शन किया जायगा, उस प्रसंग को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

भूमि अग्नि आवेश वाक् दैवी को होवें।
दैवी है वह वाक् कहे जो-जो सो होवे॥
स्वर्ग सूर्य आवेश दैव मन को है जावे।
वही देव मन जासु शोक भय दुख नसि जावें॥
दैव प्रान आवेश जल, और चन्द्रमा में कह्यो।
दैव प्रान संचार तैं, नसै न ज्यों को त्यों रह्यो॥

॥ श्रीहरिः ॥

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी द्वारा लिखित अन्य पुस्तकें

१—भागवती कथा (१०८ खण्डों में)—६४ खण्ड छप चुके हैं। प्रति खण्ड का मू० १ ६५ पैसे डाकव्यय पृथक।

२—श्री भागवत चरित—लगभग ६०० पृष्ठ की, सजिल्द मू० ६ ५०

३—सटीक भागवत चरित (दो खण्डो मे)— एक खण्ड का मू० ११ ००

४—बदरीनाथ दर्शन—बदरी यात्रा पर खोजपूर्ण महाग्रन्थ मू० ५.००

५—महात्मा कर्ण—शिक्षाप्रद रोचक जीवन, पृ०स० ३५० मू० ३.४३

६—मतवाली मीरा—भक्ति का सजीव साकार स्वरूप मू० २ ५०

७—कृष्ण चरित—पृ० स० लगभग ३५० मू० २ ५०

८—मुक्तिनाथ दर्शन—मुक्तिनाथ यात्रा का सरस वर्णन मू० २.५०

९—गोपालन शिक्षा—गौओं का पालन कैसे करें मू० २ ५०

१०—श्री चैतन्य चरितावली (पांच खण्डो मे)— प्रथम खण्ड का मू० १.६०

११—नाम सकीर्तन महिमा—पृष्ठ सख्या ९६ मू० ० ६०

१२—श्री शुक—श्री शुकदेवजी के जीवन की झांकी (नाटक) मू० ० ६१

१३—भागवती कथा की बानगी—पृष्ठ सख्या १०० मू० ० ३१

१४—शोक शान्ति—शोक की शान्ति करने वाला रोचक पत्र मू० ० ३१

१५—मेरे महामना मालवीयजी—उनके सुखद सस्मरण, मू० ०.३१

१६—भारतीय सस्कृति और शुद्धि—(शास्त्रीय विवेचन) मू० ०.३१

१७—राघवेन्द्र चरित—पृ० स० लगभग १६० मू० ०.४०

१८—भागवत चरित की बानगी—पृष्ठ सख्या १०० मू० ०.३१

१९—गोविन्द दामोदर शरणागत स्तोत्र—(छप्पय छन्दों मे) मू० ०.२५

२०—भक्तचरितावली प्रथम खड मू० ४.०० द्वितीत खड मू० २ ५०

२१—सत्यनारायण की कथा—छप्पय छन्दों सहित मू० ० ७१

२२—प्रयाग माहात्म्य— मू० ०.२० २५—प्रभुपूजा पद्धति— मू० ०.२१

२३—वृन्दावन माहात्म्य—मू० ०.१२ २६—श्री हनुमत्-शतक— मू० ० ५०

२४—सार्थ छप्पय गीता— मू० ३.०० २७—महावीर-हनुमान्— मू० २ ५०

पता—सकीर्तन भवन झूसी (प्रयाग)